तृतीय अध्याय

दलित साहित्य की पृष्ठभूमि और परंपरा

◈ प्रास्ताविक

शोषण और अत्याचार का स्वरूप चाहे कोई भी हो, लेकिन उसका परिणाम विद्रोह के रूप में या विरोध के रूप में कभी न कभी तो सामने आता ही है। यदि यह विद्रोह या विरोध शारीरिक हो तो उसे दबाना या कुचलना आसान हो सकता है लेकिन यदि वैचारिक हो तो अत्यंत कठिन एवं श्रमसाध्य ही नहीं बल्कि असंभव सा बन जाता है। क्योंकि वैचारिक क्रांति को दबाने या कुचलने के लिए उसका सामना वैचारिक रूप से ही करना पड़ता है और उसमें वैचारिक समानता की बहुलता ज़रूरी है।

भारतीय समाज में यही हुआ है। समाज के एक वर्ग विशेष को धर्म या जाति के नाम पर सदियों तक मानसिक, आर्थिक एवं सामाजिक संताप झेलने पड़े हैं। सदियों से उनका शोषण एवं दमन होता आया है। इसीलिए जैसे ही इस समाज में जरा सी चेतना का पादुर्भाव हुआ उनका विरोध, आक्रोश सारी सीमाएँ तोड़कर प्रस्फुटीत हुआ और इसीका परिणाम दलित साहित्य है।

दलित साहित्य की पृष्ठभूमि एवं परंपरा के अध्ययन के लिए हम यहाँ प्राचीन काल से लेकर आधुनिक काल तक की साहित्य रचनाओं एवं रचनाकारों का उल्लेख करेंगे और साथ ही साथ साहित्य सर्जन के परिवर्तनों का भी यथामति अभ्यास करेंगे।

3.1 प्राचीनकाल में दलितों की उपस्थिति

भारत के प्राचीन इतिहास में दलितों के दो स्वरूप पाए जातें हैं-एक शूद्र राजाओं तथा ऋषिओं के रूप में तथा दूसरा अपमानित-अवमानित और शोषित

जनों के रूप में। "अनेक देशी-विदेशी विद्वानों ने भारत में मौर्य वंश को शूद्रों का राजवंश कहा है। इसके पूर्व नन्द वंश को भी शुद्रों का ही राजवंश मानने की परंपरा है।"[1] इसका कारण यह हो सकता है कि यह राजवंश बौध्ध धर्म को माननेवाला था और इसलिए ब्राह्मणवादी परंपरा से उनका सीधा विरोध था शायद यही कारण था कि जयचन्द विद्यालंकार ने अपने 'इतिहास-प्रवेश' में नन्द वंश को नाइयों का राजवंश कहकर उसे नकारात्मक और अत्याचारी राजवंश कहा है।

संसार के महान राजनीतिज्ञ एवं कूटनीतिज्ञ चाणक्य ने इसी नंद वंश के उच्छेद की कसम खा रखी थी, क्योंकि भरी-सभा में उसका अपमान हुआ था। यह एक स्वाभाविक प्रतिक्रिया थी, क्योंकि किसी के भी लिए सार्वजनिक अपमान ऐसा ही बेधक होता है। लेकिन चाणक्य के इस अपमान के पीछे की घटना का वर्णन करते हुए हरिनारायण ठाकुर लिखते हैं कि "चाणक्य तक्षशिला से स्नातक की उपाधि लेकर सीधे धननन्द के दरबार में पहुँचा था और राजा की अनुपस्थिति में उसके राजसिंहासन पर बैठ गया था। राजा को जब इसकी सूचना मिली, तो वह दरबार में हाजिर हुए। कोई राजा अपने आसन पर किसी अपरिचित व्यक्ति को बैठा देखकर उससे कैसा व्यवहार कर सकता है ? राजा ने जब इसका कारण पूछा तो उसने रोष से अपना परिचय तक्षशिला के स्नातक ब्राह्मण के रूप में दिया। उसने नीति बतायी कि ब्राह्मण को किसी भी राजा के आसन पर बिना पूछे बैठ जाने का अधिकार है। ऐसे उत्तर पर किसी भी राजा की क्या प्रतिक्रिया हो सकती है, यह सोचने की बात है। यह सामान्य शिष्टाचार का घोर उल्लंघन था; सो राजा घननन्द ने उसे फौरन आसन से उतरवाकर सिपाहियों से खदेड़ कर बहार कर दिया।" [2] इसी के प्रत्युत्तर में जयशंकर प्रसाद के 'चन्द्रगुप्त' नाटक में नन्द के सामने खड़ा होकर चाणक्य घोषणा करता है कि- "समय आ गया है कि शूद्र राजसिंहासन से हटाए जाएँ और सच्चे क्षत्रिय मूर्धाभिषिक्त हों।" सारांश रूप में हम यह कह सकते हैं कि प्राचीन काल में भी शूद्रों या दलितों के प्रति तिरस्कार की भावना पनपती थी।

भारत के इतिहास में दलितों के ऋषि महाऋषि रूप की भी चर्चा मिलती है, जिसमें सुदास, ऋषि महिदास, रैक्व, महर्षि वाल्मीकि, व्यास,जबाल, आदि प्रमुख हैं। शायद यही कारण है कि इनकी रचनाओं को भी दलित साहित्य के अंतर्गत गिनने की प्रवृत्ति दिखाई पडती है ।वैसे तो देखा जाय तो विशुध्ध रूप से दलित साहित्य की अवधारणा भक्तिकाल और उसके बाद की रचनाओं के लिए ही सार्थक मानी जानी चाहिए लेकिन रचनाकारों की जाति के आधार पर महर्षि वाल्मीकि और व्यास की 'रामायण' और 'महाभारत' जैसी विश्व-विश्रुत धार्मिक एवं सांस्कृतिक रचनाओं को भी दलित साहित्य की कृतियाँ के रूप में वर्णित करने की प्रवृत्ति दिखाई पडती है। इसलिए हम दलित साहित्य के अध्ययन हेतु प्राचीन काल की इन कृतियों की संक्षिप्त परिचर्चा यहाँ करेंगे।

3.1.1 वाल्मीकि और ' रामायण '

वाल्मीकि के दलित होने के बारे में भी विविध मत-मतांतर प्रचलित रहे हैं। कुछ का मानना है कि वाल्मीकि मूलतः ब्राह्मण ही थे लेकिन संस्कार भ्रष्ट हो गए थे। कुछ मानते हैं कि वाल्मीकि दलित ही थे लेकिन अपने श्रेष्ठ कर्मों से द्विजत्व प्राप्त कर चूके थे। किशोर कुणाल के अनुसार 'अध्यात्म रामायण' में खुद वाल्मीकि अपने दलित होने की कथा बताते हुए कहतें है कि –

अहं पुरा किरातेषु किरातैः सह वर्धितः।
जन्ममात्रद्विजत्वं में शूद्रचारतः सदा।
शूद्रायां बहवः पुत्रा उत्पन्ना मेऽजितात्मनः।
ततश्चोरेस्च सगम्य चौरौदम्भवं पूरा।। " [3]

अर्थात् पूर्वकाल में मैं किरातों के बीच रहता था और उन्हीं के साथ पलकर बड़ा हुआ। मुझमें द्विजत्व जन्ममात्र का था, मैं सदैव शूद्रों का आचरण करता था। शूद्रा पत्नी से मेरे बहुत-से पुत्र उत्पन्न हुए और चोरों के संग में मैं भी पक्का चोर हो

गया। वाल्मीकि के दलित होने के प्रमाण में तुलसीदास ने अपने राम चरित मानस में लिखा कि - " उलटा नामु जपत जग जाना ।/ वाल्मीकि भये ब्रह्म समाना ।।"

साथ ही साथ उनके निषाद कुल की पूरी परंपरा का वर्णन कर दिया कि -

"स्वपच सबर खस जनम जड़, पाँवर कोल किरात ।

रामु कहत पावन परम,होत भुवन विख्यात ।" [4]

वाल्मीकि के दलित होने के बारे में स्वयं बाबा साहब अम्बेडकर का प्रमाण भी उपलब्ध है । इ. जिलिअट ने बाबा साहब की मराठी कविता का अंग्रेजी अनुवाद अपने लेख 'गौरव का लोकगीत : समकालीन दलित विश्वास के तीन घटक ' की शुरुआत में लिखा है, जिसकी कुछ पंक्तियों का हिन्दी अनुवाद कुछ इस प्रकार हो सकता है -

" हिन्दुओं को चाहिए थे वेद, / इसलिए उन्होंने व्यास को बुलाया,

जो सवर्ण नहीं थे / हिन्दुओं को चाहिए था महाकाव्य/ इसलिए उन्होंने वाल्मीकि को बुलाया, जो खुद अछूत थे । / हिन्दुओं को चाहिए था एक संविधान / इसलिए उन्होंने मुझे बुलावा भेजा ।" [5]

इस प्रकार वाल्मीकि के दलित होने के पर्याप्त प्रमाण खोजे जा सकते हैं और शायद यही वजह है कि वाल्मीकि को वाल्मीकि (भंगी) समाज अपना पूर्व पुरुष मानकर उनकी पूजा करता है, उनकी जयन्ती मनाता है ।

वाल्मीकि रामायण के कथानक पर विचार करें तो पता चलता है कि इस रामायण को हम पूरी तरह से सामन्ती व्यवस्था का पोषक नहीं कह सकते । इसमें इक्ष्वाकुवंशीय राजा राम की कथा है जो एक आदर्श पुरुष एवं उत्तम राजा के रूप में चित्रित हुए हैं । रामायण के कथानक की पृष्ठभूमि में रहे क्रौंच वध की घटना का संदर्भ देकर सुविख्यात दलित विचारक कंवल भारती का कहना है कि – "जहाँ तक वाल्मीकि की पौराणिक रामकथा 'रामायण' का प्रश्न है, उसे पूरी तरह से सामन्ती मूल्यों का साहित्य नहीं कहा जा सकता । यदि पाठक वाल्मीकि के उस श्लोक पर

गहराई से विचार करें, जिसमें बहेलिया द्वारा क्रोंच के जोड़े में एक पक्षी के मारे जाने के विरुध्ध अपनी अभिव्यक्ति में बहेलिया को शाप दिया गया है, तो यह समझा जा सकता है कि उसमें सामन्ती व्यवस्था पर आक्रोश किस कदर व्यक्त हुआ है । राम के द्वारा शम्बूक के वध की घटना भी दलित अस्मिता की दृष्टि से काफ़ी महत्त्व रखती है .....। उनकी चोट उस ब्राह्मणवाद पर भी है जो सामन्तवाद को मजबूत कर रहा था ।" [6]

रामायण के कथानक में यत्र-तत्र समानता और भाईचारे की बातें मिलती है, लेकिन यह भी एक हकीकत है कि रामायण में ब्राह्मणवाद या सामन्ती व्यवस्था के प्रति विद्रोह की धधकती आग नहीं मिलती है । इसका कारण यह भी हो सकता है कि वाल्मीकि सामन्ती युग के कवि थे इसलिए वे इस व्यवस्था का पूर्ण विरोध नंही कर पाये क्योंकि ऐसा करना राजद्रोह हो सकता था, जिसका दंड निश्चित रूप से मृत्यु ही था । अतः वाल्मीकि ने सामन्तों की भाषा में ही सामाजिक परिवर्तन की आवश्यकता का बोध कराया है । इस प्रकार दलितोध्धार के संनिष्ठ प्रयास एवं ब्राह्मणवाद का प्रखर विरोध खुलकर रामायण में नहीं हो पाया है इसीलिए दलित विद्वान वाल्मीकि को अपनी परंपरा में नहीं मानते हैं । दलित चिंतक कंवल भारती ने इसे और स्पष्ट करते हुए कहा है कि – "बाण से आहत क्रौंच पक्षी के आर्तनाद से उपन्न शोक क्या था ? वह वाल्मीकि की सहानुभूति ही थी । दलित चिन्तन से यहाँ दो बातें समझने की है । वह यह कि क्रौंच पक्षी की पीड़ा और वाल्मीकि की सहानुभूति दो अलग-अलग चीजें हैं । वाल्मीकि की सहानुभूति क्रौंच का यथार्थ नहीं हैं । ...उनका भोक्ता स्वयं क्रौंच ही था । ...यदि क्रौंच की जगह दलित को, बहेलिये की जगह सहानुभूति दिखानेवाले द्विज लेखकों को रख दिया जाए, तो दूसरी बात यहाँ समझने की है कि क्रौंच की शिकायत या रोष वाल्मीकि से नहीं है, बहेलिये से है- दलित साहित्य के केन्द्र में भी 'बहेलिया' ही है, 'वाल्मीकि' नहीं हैं ।" [7] इस प्रकार वाल्मीकि कथा यदि वही पारंपरिक रामकथा है, तो स्पष्टत: वह दलित

साहित्य के अतंर्गत नहीं है । यहाँ देखने योग्य बात यह भी है कि इसी रामकथा को तुलसीदास ने नया रूप दिया और इसे अधिक लोकरंजक बनाने हेतु कई नये अध्याय या कांड भी जोड़ दिये और साथ ही साथ महत्वपूर्ण यह है कि तुलसी ने 'क्रौंच' के समग्र कुल-ढोल, गँवार शूद्र, पशु नारी को 'ताड़न' का अधिकारी घोषित कर दिया । और यह एक हकीकत है कि समाज ने इसी ' मानस ' को ज्यादा स्वीकारा । आज वाल्मीकि रामायण कहीं नही मिलता । 'ताड़नप्रिय' आज के समाज में सर्वत्र रामचरित एक ' मानस ' के रूप में ही प्रतिष्ठित है । जिसकी एक वजह वाल्मीकि का दलित होना भी हो सकती हैं ।

3.1.2 व्यास और ' महाभारत '

वाल्मीकि की भाँति व्यास के दलित या शूद्र होने के भी पर्याप्त प्रमाण मिलते हैं । एक प्रसिध्ध कथा के अनुसार व्यास की माता सत्यवती और पिता चेदीराज निषाद थे और निषाद की गणना दलितों में होती हैं । पुराणों में व्यास के कई नामों का उल्लेख मिलता है, जैसे- द्वैपायन, कृष्ण द्वैपायन, कृष्ण मुनि, वेद व्यास आदि । व्यास को ऋषि पराशर का औरस पुत्र भी कहा जाता हैं । इस संबंध में एक कथा है कि - " निषादराज की पुत्री सत्यवती अत्यंत सुंदर थी । उसके शरीर की सुगन्ध और सौंदर्य-सौरभ हवा के साथ फैलकर एक योजन तक चले जाते थे । इसलिए उसका एक नाम योजनगन्धा भी था । एक अन्य कथा के अनुसार उसकी देह से मछली की दुर्गन्ध आती थी, जिसे ऋषि पाराशर ने सुगंध में बदल दिया था । सत्यवती की नाव में सवार ऋषि पाराशर उस पर मोहित हो गये और उससे सम्भोग कर बैठे । उसी के गर्भ से व्यास का जन्म हुआ ।" [8] अतः एक दलित कन्या के पुत्र होने के कारण व्यास दलित माने जाते हैं ।

अगर इस दृष्टि से देखा जाए तो महाभारत काल में ऐसे कई पात्र मिल जाते हैं जिसे दलित या शूद्र गिना जा सकता हैं । "भगवान श्री कृष्ण की माता देवकी असुर वंश की कन्या थी, जबकि कृष्ण के पिता वसुदेव आर्य क्षत्रिय थे । भीम ने

हिडिम्बा नामक राक्षसी से विवाह किया था । अर्जुन का एक विवाह उलूपी से हुआ था, जो नाग जाति की कन्या थी । श्रुतश्रवा ऋषि के पुत्र सोमश्रवा नागकन्या के गर्भ से उत्पन्न महातपस्वी स्वाध्याय संपन्न और तपोवीर्य सम्भूत थे ।" [9] इससे एक बात स्पष्ट होती है कि इस काल में जाति व वर्ण-व्यवस्था के बंधन कुछ कमजोर थे।

महाभारत का कथानक भी इसी बात की प्रतीति करवाता है । वाल्मीकि के रामायण की अपेक्षा महाभारत में जाति और वर्ण-व्यवस्था अत्यंत उदार दिखाई देती हैं । वर्ण-व्यवस्था के प्रति आक्रोश एवं अपनी विरोध भावना को व्यास ने कई स्थानों पर युधिष्ठिर के मुख से व्यक्त किया है । पुराणों का एक प्रचलित कथन हैं कि -

" जन्मना जायते शूद्रः कर्मणा द्विज उच्यते । " [10]

इससे प्रथम दृष्टि में यही अर्थ प्रतीत होता है कि वर्ण का निर्धारण कर्म के आधार पर होना चाहिए । लेकिन यही बात 'अत्रि संहिता' में विपरीत या बिलकुल उल्टे ढंग से की गई है - " जन्मना ब्राह्मणो ज्ञेय: संस्काराद् द्विज उच्यते ।" [11] अब सवाल यह उठता है कि किसको सही माने या किसका पालन करे ? इसी शंका का निवारण महाभारत में व्यास ने वन पर्व में वर्णित 'युधिष्ठिर-सर्प' संवाद में प्रत्यक्ष रूप से किया है । "वहाँ सर्प ने युधिष्ठिर से पूछा कि ब्राह्मण वह है, जिसमें सत्य, दान, क्षमा, सुशीलता, क्रूरता का अभाव तथा तपस्या और दया, इन सद्गुणों का निवास हो । इस पर सर्प यह शंका करता है कि ये गुण तो शूद्र में भी हो सकते हैं, तब ब्राह्मण और शूद्र में अंतर क्या है ?

"शुद्रेष्वपि च सत्यं च दानमक्रोध एवं च ।
आनृशंस्यमहिंसा च घृणा चैव युधिष्ठिर ।" [12]

इसका युधिष्ठिर ने जो उत्तर दिया वह किसी भी सुलझे हुए विद्वान का उत्तर हो सकता है । युधिष्ठिर कहतें हैं कि -

" शुद्रे तू यद् भवेल्लक्षम द्विजे तच्य न विद्यते,
न वै शूद्रो भवेच्छुद्रो ब्राह्मणो न च ब्राह्मण: ।

यत्रैतल्लक्ष्यते सर्प वृतं स ब्राह्मण: स्मृत:

यत्रैतन्न भवेत् सर्प तं शूद्रमिति निर्दिशेत् ।" [13]

अर्थात् यदि शूद्र में वे लक्षण (प्रेम, क्षमा, सत्य, आदि) है और ब्राह्मण में नहीं है, तो वह शूद्र नहीं है और न वह ब्राह्मण ब्राह्मण ही है । हे सर्प! जिसमें ये सत्य आदि लक्षण मौजूद हों, वह ब्राह्मण माना गया है और जिनमें इन लक्षणों का अभाव हो, उसे शूद्र कहना चाहिए ।" [14]

व्यास के महाभारत में ऐसे कई स्थान या प्रसंग है जहाँ रचयिता ने वर्ण-व्यवस्था की कड़वी वास्तविकता और उसके घोर अन्याय को प्रस्तुत किया हो । चाहे वह एकलव्य के साथ किया गया ब्राह्मणवादी षड्यन्त्र हो, चाहे कर्ण के साथ हुआ सामाजिक अन्याय हो या चाहे द्रौपदी स्वयंवर में लक्ष्यवेध के लिए उत्सुक कर्ण का अपमान हो, हर जगह जाति प्रथा को एक कुप्रथा के रूप में ही चित्रित किया गया है । महाभारत में द्रोण, भीष्म और कृष्ण तक को मनुवादी मानसिकता से ग्रस्त बताकर उन्हीं के सामने एकलव्य और कर्ण की महानता को ज्यादा महत्त्व दिया गया है । कर्ण और एकलव्य के चरित्र के सामने इन्द्र, भीष्म, अर्जुन, द्रौपदी और खुद कृष्ण के चरित्र भी बौने प्रतीत होते हैं । इस दृष्टि से महाभारत संपूर्ण न्याय, नीति और धर्मनिष्ठा के साये में पनपती मानवता की महागाथा है, जो व्यासजी के विशाल ह्रदय की कल्पना है । यह वह कृति है जो रचनाकार की मानवीय मूल्यों के प्रति श्रध्धा एवं सह्रदयता के साथ संवेदनशीलता की परिचायक है ।

भारतीय संस्कृति के दो महाऋषि वाल्मीकि और व्यास की परंपरा मानवता की पक्षधर है और किसी भी प्रकार के कार्य भेदभाव से परे हैं । लेकिन रामायण और महाभारत मैं वर्णित वर्ण-व्यवस्था के विरोध को परिस्थिति मूलक एवं सहानुभूति से जनीत कहा जा सकता है । क्योंकि इन महाकथाओं में वर्णित सामग्री सामाजिक यथार्थ का चित्रण ही ज्यादा लगती हैं । रामायण की शम्बूक वध की घटना इसी की परिचायक है । महाभारत में कृष्ण की अक्षौहिणी सेना भी उनका साथ नहीं देती " वह भी आखिरी समय में दगा दे गई, कहा - वैसे लोगों के पक्ष में हम नहीं लड़

सकते जिनके बाप कौन है इसी पर सवालिया निशान है ।" [15] तब कृष्ण अकेले पड़ गए, वे कर्ण को मनाने के लिए प्रयास करते हैं लेकिन उसमें भी वे विफल रहे । अगर कृष्ण चाहते तो एकलव्य को महाभारत के युद्ध में शामिल कर सकते थे लेकिन उसमें उनकी अक्षमता ही बहुत कुछ कह देती है । क्योंकि वे जानते थे कि अर्जुन और एकलव्य को एक साथ नहीं रखा जा सकता था । "यदि कृष्ण ने अर्जुन को आगे न करके एकलव्य को आगे किया होता तो कृष्ण सामाजिक-परिवर्तनकारी दृष्टि से बुध्ध हो गए होते, लेकिन उसके लिए जो महाभारत होता, उसका खाका अलग होता । वह शायद अठारह दिनों में सम्पन्न नहीं हो पाता और कुरुक्षेत्र में अंत नहीं पाता।" [16] कृष्ण का यह व्यवहार शक के दायरे में आ जाता है और यही शक इन कृतियों को विशुध्ध रूप से दलित साहित्य मानने में बाधक है । इस संदर्भ में कंवल भारती का कहना है कि - "वाल्मीकि और व्यास ने शम्बूक और एकलव्य की कथाएँ जिस भाव-बोध के साथ चित्रित की हैं , क्या दलित चेतना उससे सहमत हो सकती है ? हम यहाँ मान लें कि राम के हाथों मरकर शम्बूक देह-सहित स्वर्ग चला गया था ? हम यह भी मान लें की एकलव्य ने गुरु के प्रति आदर-भाव से स्वेच्छा से अपना अंगूठा काटकर आचार्य द्रोण को दे दिया था ? यदि वाल्मीकि और व्यास की दलित चेतना का मूल्यांकन हम नहीं करेंगे... तो कौन करेगा ?" [17] यदि इन तथ्यों को सामने रखकर सोचा जाय तो निश्चित रूप से वाल्मीकि और व्यास की परंपरा मनुवादी परंपरा ही सिध्ध होती है । इनकी कृतियों में वर्णित वर्ण-व्यवस्था का विरोध तत्कालीन सामाजिक यथार्थ ही ज्यादा प्रतीत होता है । इसलिए इन कृतियों को विशुध्ध रूप से दलित साहित्य नहीं कहा जा सकता है । शायद यही वजह है कि दलित लेखक, बुध्धिजीवी और विचारक वाल्मीकि एवं व्यास की परंपरा को खारिज कर देते हैं ।

एक और मत के अनुसार 'नाभादास' के 'भक्तमाल' में भी दलित चेतना के उत्स होने की बात कही जाती है । इसके सबूत के रूप में नाभादास के 'भक्तमाल' का मंगलाचरण बताया जाता है ।

" जय जय मीन, वराह, कमठ, नरहरि, बलि, बामन ।
परशुराम, रघुवीर, कृष्ण कीरति जग पावन ।।"

(भक्तमाल, मंगलाचरण)

हरिनारायण ठाकुर का कथन है कि "नाभादास ने भक्तमाल के मंगलाचरण में ही ईश्वर के ऐसे रूप और अवतारों की वंदना की है, जो दलित समाज के सर्वाधिक करीब है । और तो और उन्होंने दानवों के राजा बलि की भी वंदना की है ।" [18] और इस आधार पर नाभादास को डोम मानते हैं । और 'भक्तमाल' में दलित चेतना को ढूँढते हैं । लेकिन प्रार्थना या आराधना में किसी भगवान का नाम लेने मात्र से हम उस जाति के नहीं बन जाते । इसीलिए दलित विद्वान न तो नाभादास को दलित मानते हैं और न ही उनकी विचारधाराओं को भी अपने करीब मानते हैं । इस प्रकार प्राचीन काल में ऐसी छुट-पुट रचनाएँ मिल जाती हैं , जिनको दलित साहित्य के अंतर्गत गिनाने की प्रवृत्ति दिखाई देती हैं । लेकिन दलित विद्वान् भारतीय साहित्य, संस्कृति और भक्ति आन्दोलन में जैन और बौध्ध धर्म और सिध्ध-नाथों के खंडन-मंडन की परंपरा तथा कबीर आदि निर्गुनियाँ सन्तो की परंपरा को ही अपनी विरासत मानते हैं । अतः हम यहाँ इन्ही परंपराओं के कुछ कवियों की परिचर्चा करेंगे ।

3.2 सिद्ध एवं नाथ साहित्य

जैसा कि हम पहले ही कह चूके हैं कि दलित साहित्य का उदभव उत्पीड़न और अत्याचार के परिणाम स्वरूप ही हुआ है । इतिहास में आर्यों- अनार्यों के संघर्ष के बाद पराजित आर्यों को दस्यु या दास बना दिया गया, उन पर अनेक निर्योग्यताएँ स्थापित कर दी गईं तथा उच्च-ब्राह्मण वर्ग ने धर्म को आगे करके सारे विशेषाधिकार सुरक्षित कर लिए । इतिहास में इस वर्चस्ववादी प्रवृत्ति के खिलाफ़ सबसे बड़ा विद्रोह गौतम बुद्ध ने किया । "उन्होंने पूजा उपासना का अधिकार शूद्रों को ही नहीं, बल्कि स्त्रियों को भी दिया । इसके उपरान्त उन्होंने हिंदू धर्म के मूल ईश्वर के अस्तित्व पर ही प्रश्नचिह्न लगा दिया । जहाँ हिन्दू धर्म, अपनी मान्यताओं पर जो

धर्म ग्रंथो में वर्णित थी, तर्क करनेवालों को नास्तिक कहकर, धर्म से बाहर कर देता था वहीँ गौतम बुद्ध ने कहा- "आनन्द यह मैं कह रहा हूँ, इसलिए इस पर विश्वास मत करना, तर्क की कसौटी पर कसना, और जब खरा उतरे, तब मानना । बुध्ध ने अपने धर्म में तर्क को प्रधानता दी। इसलिए बौद्ध धर्म को एक वैज्ञानिक धर्म माना जाता है ।" [19] बुध्ध के धर्म की यही वैज्ञानिकता मानव-मानव समानता वाले बौध्ध साहित्य की प्रेरणा स्त्रोत बनी । बुध्ध के इन सिध्धांतो के आधार पर ही बौध साहित्य की रचना की गई, जिसमें जाति-पाँति के या धर्म के आधार पर मानव-मानव में कोई भेदभाव नहीं बरता गया । यही वजह थी कि आगे चलकर डॉ. अम्बेडकर ने बौद्ध धर्म ग्रहण कर लिया । गौतम बुद्ध की इस क्रांति को डॉ. प्रेमशंकर ने कुछ इस तरह देखा है -"जाति व्यवस्था के विरोध में संघर्ष सामाजिक एवं संस्कृति के साथ-साथ साधनात्मक स्वरूप भी लेने लगा था । भगवान गौतम बुध्ध एवं भगवान महावीर ने शूद्रों एवं दासों के प्रति मानवीय गरिमा के द्वार सबलता पूर्वक खोल दिये थे । धम्मपद ने ब्राह्मण वर्गों की जन्मगत उच्चता पर प्रश्नचिन्ह लगा दिया था । इसका परिणाम यह हुआ कि सम्राट अशोक ने ब्राह्मण को भी न्याय के समक्ष अन्य वर्गों के साथ समान रूपेण प्रस्तुत कर दिया, बौध धर्म की महायान शाखा ने जाति व्यवस्था पर कठोरता पूर्वक चोट की ।" [20] स्वयं गौतम बुद्ध ने ब्राह्मण की जन्मगत श्रेष्ठता पर प्रश्नचिह्न लगाते हुए कहा कि ...

"न जटाहि न गोन्तहि न जच्चां होति ब्राह्मणों "

(धम्म पद, ब्राह्मण वग्गो, 293 / 11, पृष्ठ -297)

यह वर्ण-व्यवस्था पर कुठराघात था । इसलिए दलित साहित्य की प्रेरणा का एक महत्वपूर्ण स्त्रोत बौद्ध साहित्य को माना जाता है ।

3.2.1 सिद्ध साहित्य

बौद्ध धर्म की महायान शाखा की वज्रयानी परंपरा में जो चौरासी सिद्ध हुए है, उनके साहित्य को सिद्ध साहित्य कहा जाता है, ये सिध्ध कवि ई.स.700 से 1200

तक विद्यमान थे, और इनका संबंध नालन्दा तथा विक्रमशिला के बौद्ध शिक्षा केंद्रों से था । आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इन चौरासी सिद्धों के नामों का उल्लेख किया है - "चौरासी सिद्धों भूटिया, भिलापा, विरूपा, डोंभिपा, शवरिया, सरहपा, कंकालिया, मीनपा, गोरक्षपा, चौरंगीपा, वीणापा, शांतिपा, तंतिपा, चमरिपा, खड़गापा, नागार्जुन, कण्हपा, कर्णरिपा, थगनपा, नारोपा, शीलपा, तिलोपा, हड़पा, भद्रपा, दोखदिपा, अजोगिपा, कालपा, होंगीपा, कंकणपा, कमरीपा, डोगिपा, भदेपा, तधेपा, कुकरिया, कुचिपा, धर्मपा, महिपा, अंचितिपा, मल्लहपा, नालिनपा, मुसुकुपा, इंद्रभूति, मेकोपा, कुढालिपा, जालन्धरपा, रहुलपा, धर्वरिपा, धोकरिपा, मेदिनीपा, पंकजपा, घंटापा, जोगिपा, चेलुपा, गुंडरिपा, लुचिकपा, निर्गुणपा, जयानंन, चर्पटीपा, चंपका, भिखनपा, मलिपा, कमारिपा, चेवरीपा, मणिभद्रा (योगिनी), कनखलपा (योगिनी), कनकनपा, केनालीपा, छुहुरिपा, उधरिपा, कपालपा, सागरपा, सर्वभक्षपा, नागबोधिपा, द्वारिकपा, पुतुलिपा, पनहपा, कोकालिपा, अनंगपा, लक्ष्मीकपा (योगिनी), समुद्रपा, भालिपा आदि हैं ।" [21]

इन सिद्धों ने धर्म के अतिरेकवाली उस पध्धति का विरोध किया जिसके तहत मानव को अस्पृश्य बनाकर उसे धार्मिक प्रवृत्तियों से भी दूर कर दिया था । कहा जाता है कि इन सिध्धों में से कई निम्न जाति के थे । डॉ. एन. सिंह ने इन चौरासी सिद्धों में से पैंतीस को शूद्र बताया है । जिनके नाम व जाति इस प्रकार है -

"जोगिया (डोम), सर्वभक्ष (शूद्र), भद्रपा (शूद्र), मणिप्रदा (गृहदासी), महिपा (शूद्र), मनिपा (कधुना), चर्पटी (कहार), कंथलीग (दर्जी), गुन्डरीपा (चिड़िमार), खड़गपा (शूद्र), मेदनीपा (शूद्र), शालिपा (शूद्र),थगनपा (शूद्र), घोम्मिपा (घोबी), चमरिपा (चमार), कुण्डालिपा (शूद्र), क्षत्रपा (शूद्र), चेलुकपा (शूद्र) कालपा (लोहार), कंकालिपा (शूद्र) पनहपा (चमार), निगुणपा (शूद्र), भीखनपा (शूद्र), घहुलिपा (शूद्र), पुतालिपा (शूद्र), कुचिपा (शूद्र), कमालपा (शूद्र), कलकलपा (शूद्र), ततैपा (शूद्र), घोकरिपा (शूद्र) आदि ।

वर्ण-व्यवस्था के प्रति इनके विरोध का एक कारण इनकी जाति को भी माना जा सकता है। माताप्रसाद के अनुसार "आठवीं शताब्दी के मध्यकाल में सहजयान के सिध्ध संप्रदाय के आचार्य सरहपा हुए।" [22] आचार्य सरहपा के बारे में कहा जाता है कि उन्होंने तो खुद ब्राह्मण होते हुए भी एक नीच जाति (सर बनानेवालें) की कन्या से विवाह किया और उसीके आधार पर अपना नाम भी 'सरहपा' कर दिया। आचार्य सरहपा को सिध्धों के गुरु के रूप में जाना जाता है।

सरहपा का ब्राह्मण विरोधी मत कुछ इस अर्थ में देखा जा सकता है-

" ब्राह्मण न जानते भेद , यों ही पढ़े ये चारों वेद।
मट्टी पानी कुश लेई पठन्त , घर बैठे अग्नि होमन्त ।।
एक दण्डी त्रिदण्डि भगवा भेसे , ज्ञानी होके हंस उपदेसे।
मिथ्ये ही जग वह भूले , धर्म , अधर्म जानत तुत्थे ।।
वर्ण आचार प्रमाण रहित , अच्छर भेद।
अनन्त को पुजई धरे भंजई , तऊ न लागे लेप ।। " [23]

साहित्य के क्षेत्र में सिध्धों के चर्यापद और दोहे प्रसिध्ध है, जिनका सार वैदिक आचार संहिताओं का खंडन-मंडन और ब्राह्मणवादी विचारधारा का विरोध है। दोहों के माध्यम से इन्होने समाज में प्रचलित रुढियों, मान्यताओं , बाह्य विधानों एवं धार्मिक आडंबरों का विरोध किया है और चर्यापदों के द्वारा जनमानस को उपदेश दिये हैं। सरहपा के कुछ पदों के उद्धरण इस प्रकार है -

"पानी और कुश लेकर संकल्प करने-करानेवाले, रात दिन अग्निहोत्री में निमग्न रहनेवाले, घड़ी-घंटा बजाकर आरती उतारनेवाले, मुंड-मुड़ाकर संन्यासी बननेवाले, नग्न रहनेवाले केशों को लुंचित करनेवाले, झूठे साधकों की लानत-मलामत करने में वे समूचे बौद्ध साधकों में अद्वितीय थे। " उन्होंने लिखा है -

" जई रागठगा बिअ होइ भूत्ति ता सगुणह सिआलह।
लोमुपटणें अत्थि सिद्धि ता जबई णिअम्बइ ।।

पिच्छी गहणे दिठ्त मोक्ख तो मोरह चमरह ।

उच्छे भोअणें होई जाण ता करिह तुरंगह ।। " [24]

इस प्रकार जगह-जगह पर सिध्धों की वाणियाँ ब्राह्मणवादी आचार-विचारों का निषेध करती दिखाई देती है । अतः दलित चेतना का उत्स हम यहाँ प्राप्त करते हैं ।

3.2.2 नाथ साहित्य

सिद्धों की भोग प्रधान योग साधना की प्रतिक्रिया के रूप में चौरासी सिध्धों में से ही एक आदिनाथ ने नाथपंथ की नींव डाली और बाद में उनके शिष्य मत्स्येन्द्रनाथ और आगे चलकर गुरु गोरखनाथ ने इस पंथ को आगे बढ़ाया ।

नाथ पंथ में कुल नौ नाथ हुए हैं ।

(१) आदिनाथ (४) चौरंगीनाथ (७) एकनाथ

(२) मत्स्येन्द्रनाथ (५) माननाथ (८) दंडनाथ और

(३) जलंधर नाथ (६) गोरखनाथ (९) भवनाथ [25]

डॉ. प्रेमशंकर के अनुसार- " नाथ सिध्ध कवियों में कई शूद्र नाथ सिध्ध कवि थे । इन्होने जाति व्यवस्था, ब्राह्मणवादी संस्कृति और साहित्य के विरोध में सशक्त अभिव्यक्ति के द्वारा अपने संघर्ष को जीवंत रखा है । " [26]

गोरखनाथ पहले बौद्ध थे, बाद में शैव बन गए और राजा भर्तृहरि के साथ मिलकर उन्होंने नाथ पंथ का व्यवस्थित प्रचार किया। एक मत के अनुसार गोरखनाथ विद्वान ब्राह्मण थे, किन्तु ब्राह्मण होने पर भी उन्होंने ब्राह्मणवादी पाखंडो का विरोध करके भक्ति का एक नया मार्ग सुझाया, जो सबके लिए ग्राह्य था। इसलिए डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी कहते हैं कि-" भक्ति आंदोलन के पूर्व सबसे शक्तिशाली धार्मिक आंदोलन गोरखनाथ का भक्तिमार्ग ही था । गोरखनाथ अपने युग के सबसे बड़े नेता थे । " [27]

गोरखनाथ को नाथ-पंथी साहित्य का आरंभकर्ता माना जाता है। "उनके पदों की संख्या ४० मानी जाती है, जिसमें सवदी, पद, प्राणसकलनी, आतम-बोध, सप्तवार, रोमावली, ज्ञान तिलक, पंचमात्रा आदि प्रमुख हैं । " [28]

गोरखनाथ ने बाह्याडम्बरों का विरोध करते हुए लिखा है कि -

" गंगा के नहाये कहो को नर तर गये ।

मछली न तरी जाको गंगा में ही वास है । " [29]

नाथ साहित्य में यदि हम दलित चेतना की बात करें तो गोरखनाथ ने शूद्र को विद्या देने की बात की है , जो उस समय में एक जधन्य अपराध माना जाता था । वे कहते है कि - " वैसन्दर मुनि मुषि ब्रह्म जो होते , सुद्र पढ़ाऊँ बानी ।

असंवद विधि ब्राह्मण जग निपजा , मैने जुगाति जमाया पानी ।। " [30]

इस प्रकार नाथ साहित्य में रूढ़िवादी पंडितो को फटकारा गया है। सिध्ध और नाथ साहित्य ने समाज में व्याप्त जाति प्रथा का विरोध करके मानवीय समानता को महत्व दिलाने का संनिष्ठ प्रयास किया है । साथ ही साथ अन्धविश्वास और कर्मकाण्डों का खंडन , परम सत्ता में विश्वास आदि इसी साहित्य की देन है , जो आगे चलकर भक्ति का प्रस्थान बिंदु बनी । सिद्ध और नाथ साहित्य की शिक्षाएँ दलित चेतना के करीब है और इसीलिए यह रचनाएँ दलित साहित्य का प्रेरणा स्त्रोत हैं ।

3.3 भक्त कवियों का दलित कविता के परिप्रेक्ष्य में योगदान

भारत में दिल्ली सल्तनत की स्थापना के साथ ही सूफ़ी धर्म का प्रचार हुआ । सूफ़ी कवियों की प्रेम और भक्ति की मधुर साधना साहित्य में प्रस्फुटित हुई जिनमें मुस्लिम समाज की सामन्ती समाज व्यवस्था के प्रति विरोध जताकर निश्छल प्रेम का संदेश दिया गया और मानवीय समानता की महत्ता उजागर की गई । समाज में हुए इन परिवर्तनों ने साहित्य पर गहरा प्रभाव डाला । इसी प्रभाव की तहत साहित्यिक प्रवृतियों में भी बदलाव आए और मानवीय मूल्यों का प्रभाव बढ़ा । आगे चलकर यही प्रवृत्तियों ने भक्तिमार्गी कवियों पर मोहिनी डाल दी और साहित्य रचना एक सामाजिक क्रांति के रूप में उभरने लगी । इनमें निर्गुण संप्रदाय के संत कवियों की रचनाएँ प्रमुख है । भक्तिआंदोलन भारतीय साहित्य का सबसे बड़ा आंदोलन माना जाता है । दलित चेतना के विकास के अध्ययन हेतु हम इन्हीं संत

कवियों की रचनाओं की चर्चा करेंगे , क्योकिं इन्ही निर्गुणिया सन्तो ने दलित चेतना को विकसित करने में और व्यापक बनाने में अमूल्य योगदान दिया है ।

3.3.1 कबीर

कबीर भक्तिकाव्य की निर्गुण भक्तिधारा में महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं । कबीर का जन्म काशी में हुआ था । लहरतारा नामक तालाब के पास से मिले इस बालक का पालन-पोषण नीमा और नीरू नामक जुलाहा दंपत्ति ने किया। कबीर का आविर्भाव जिस काल में हुआ उस समय देश के राजनीतिक, धार्मिक तथा सामाजिक संगठन ढीले पड़ गए थे और इसके परिणाम स्वरूप देश में राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक , सांस्कृतिक तथा आर्थिक क्षेत्रों में चल रहे संघर्ष अपने चरम पर थे । समस्त भारतीय समाज अनेक धर्मचारों एवं कर्मकांडों के जाल में फँसा हुआ था समाज के प्रमुख धर्म हिन्दू और इस्लाम अपने-अपने प्रभाव को फ़ैलाने के लिए अनेकविध धर्मचारों का प्रचार करने में लगे हुए थे । कबीर के इस काल के बारे में डॉ. तारा परमार लिखती है कि- " समस्त भारतीय समाज धर्म और कर्म के आधार पर अनेक वर्गों में विभाजित था । उन सभी वर्गों को शास्त्र और लोकाचार के अनेक भ्रम-जाल सामाजिक और मानसिक यातनाओं से घेरे हुए थे। जनसामान्य पीड़ित और आतंकित होकर जीवन के प्रति निराशा और आस्था का दृष्टिकोण अपना रहा था । वह समझ नहीं पा रहा था कि वह वेदपाठी, योगी, संन्यासी, दिगंबर, वीर या इसी तरह के अन्य किस धर्मवाहक की बात सुनें । घर के बाहर जो लोकाचार विभिन्न रीति रिवाजों और बाह्याचारों में उलझा रहे थे, उनमें से वह किसको ग्रहण करें और किसका त्याग करें । अनेक धर्मोपदेश इधर से उधर आतंक जमाते घूमते थे, किंतु उनमें से एक भी ऐसा नहीं था जो शास्त्रों की किताबी ज्ञानोच्चता में सामान्य जन के लिये व्यवहार्य बनाये या लोकाचार की सड़ी-गली परंपराओं पर कुठराघात करें । " [31] कबीर ने इसी समय में एक समाज सुधारक एवं धर्मसुधारक का काम किया । वे अनपढ़ थे उन्होंने कभी " मसि कागद छुआ नहीं , कलम गहि नहीं हाथ । "

वे मस्तमौला थे और जो कुछ कहते थे साफ़-साफ़ शब्दों में कहते थे । कबीर 'कागद की लेखि' से ज्यादा 'आंखिन की देखी' पर विश्वास करते थे और कहते थे इसलिए उनकी रचनाओं में अनुभूतिजन्य यथार्थ स्पष्ट रूप से झलकता है । धार्मिक बाह्याड़ंबरों के विषय में उन्होंने हिन्दू और मुस्लिम दोनों को आड़े हाथों लिया है । वे कहते है कि -

पाथर पूजै हरि मिले तो पूजूँ मैं पहार ।
ताते यह चाकी भली पीस खावै संसार ।।
दिन को रोझा रखत है ,रात हनत है गाय ।
यह तो खून वह बदंगी कैसे खुसि खुदाय ।।
हिन्दू आपनि करै बड़ाई , गागरि छुवन न देई ।
वेस्या के पायन तर सौवे , यह देखो हिन्दुवाई ।।
माला केरत जुग भया , फिरा ना मनका फेर ।
करका मनका डारि दै , मन का मनका फेर ।
कंकड-पत्थर जोरि कै , मस्जिद लई बनाय ।
ता पर चढ़ि मुल्ला बाँग दी , क्या बहरा भया खुदाय ।।

धार्मिक बाह्याचारों पर ऐसा प्रहार सीधे-सीधे धार्मिक ढकोसलों को पुख्त करनेवाले पोंगा पडितों पर कुठाराघात के समान था।कबीर ने आडम्बर-प्रियता,मिथ्यावादिता, अहंकार-प्रियता, रुढ़िवादिता तथा मिथ्या-धार्मिकता को जड़ से ही ख़ारिज कर दिया। उन्होंने आचरण शुध्धता पर बल देते हुए यह घोषित कर दिया कि -

" सो हिन्दू सो मुसलमान , जाका दुरुस्त रहे ईमान । "

हिन्दू-मुसलमान को एकता का संदेश देते हुए उन्होंने कहा कि -

" कह हिन्दू मोहि राम पियारा , तुरक कहे रहिमाना ।
आपस में दोऊँ लरि-लरि मुये , मरम न काहु जाना ।। "

कबीर ने तत्कालीन समाज में व्याप्त जाति-प्रथा का आक्रोश पूर्ण विरोध किया है। वे मानव-मानव की समानता को महत्व देते हैं और सभी का उत्पत्ति स्थान एक बताकर भेद-भाव को व्यर्थ बताते हैं -

" एक बूँद एकै मलमूतर , एक चाम एक गूदा।
एक ज्योति से सब उत्पन्न , कौन ब्राह्मण कौन सूदा।
एकै पवन एक ही पानी , एक जाति संसारा।
एक ही खाक घड़े सब भाँड़ , एक ही सिरजन हारा।
पाँच तत्व का पूतरा , रज बीरज की बूँद।
एकै घाटी नीसरा , ब्राह्मण , छत्री , शूद्र ।।" [32]

इस संबंध में मनीषा कुलश्रेष्ठ ने लिखा है कि- " तत्कालीन ब्राह्मणों ने जन्म के आधार पर ही, चाहे आचरण कितना निम्न क्यों न हो अपनी श्रेष्ठता समाज पर थोप रखी थी। कबीर का कहना था कि एक बिन्दु से निर्मित पंचतत्व युक्त वह मानव देह और सबका निर्माता एक ही ब्रह्मा रूपी कुम्हार तो फिर जन्म के आधार पर यह भेद क्यों ? "

" जो तू ब्रह्मन , ब्राह्मनी जाया। आन बाट व्है क्यों नहीं आया ।। "

एक पद में तो उन्होंने पंडितों के प्रपंच से खुलकर पूछा है उनमें शूद्रों से भला कौन-सी श्रेष्ठता है ? -" काहे को कीजै पाण्डे छोति बिचारा / छोत हि ते उपजा संसारा ।।

हमारै कैसे लहू , तुम्हारे कैसे दूध / तुम्ह कैसे ब्राह्मण पांडे हम कैसे सूद ।।
छोती-छोती करत तुम्ह ही जाय / तौं ग्रभवास काहे को आए ।। " [33]

'बीजक' कबीर का सर्वश्रेष्ठ ग्रंथ है , जो 'साखी' , 'सबद' और 'रमैनी' तीन भागों में विभाजित है। कबीर का साहित्य जाति-पाँति का आक्रोशपूर्ण विरोध और बाह्याडंबरों का प्रबल खंडन करता है। कबीर ने ब्राह्मण और सामन्त लोगों को , जो चाटूकारिता से मुगल शासकों से सम्बन्ध बना कर रखते थे और निन्म वर्ग का धर्म व शासन के नाम पर शोषण करते थे, कर्मकाण्डों को बढ़ावा देकर अपना उल्लू सीधा

करते थे, उनको अच्छे से फटकारा है और इसके द्वारा उन्होंने इस ब्राह्मणवादी प्रवृत्ति और धार्मिक कट्टरता के उन्मूलन का बीड़ा उठाया था । " कबीर ने हिन्दू-मुसलमान, स्त्री-पुरुष सभी को बंधन मुक्त करने का बीजमंत्र दिया। कबीर संसार में पहले स्वतंत्रता सेनानी थे, जिसने मानव मात्र को भौतिक, मानसिक और आध्यात्मिक सभी बंधनों को तोड़ने का मंत्र दिया ।" [34]

कबीर ने हिंदू धर्म में व्याप्त छुआछूत का विरोध करके ऊँच-नीच की भावना को बुरा बताया है और वर्ण-व्यवस्था की खिल्ली उड़ाकर मानव मात्र की समानता एवं एकता पर जोर दिया है । कबीर ने जो कुछ कहा है वह निष्पक्ष निर्द्वन्द्व और निर्भीक होकर कहा है । हिंदू और मुसलमान दोनों मत के दोषों को उजागर करते हुए वे कहते है कि -

" ना जाने तेरा साहिब कैसा है ।
मसजिद भीतर मुल्ला पुकारै क्या साहिब तेरा बहिरा है ?
चिंउटी के पग नेवर बाजे , सो भी साहिब सुनता है ।
पंडित होय के आसन मारे , लम्बी माला जपता है ।
अन्दर तेरे कपट करतनी , सो भी साहब लखता है । " [35]

कबीर के व्यक्तित्व की व्याख्या करते हुए आचार्य हजारी प्रसाद द्रिवेदीजी ने कहा है कि - " जो लोग हिंदू-मुस्लिम एकता के व्रत में दीक्षित हैं वे भी कबीरदास को अपना मार्गदर्शक मानते हैं । यह उचित भी है । राम-रहीम और केशव-करीम की जो एकता स्वयं सिद्ध है उसे भी सम्प्रदाय बुध्धि से विकृत मस्तिष्कवाले लोग नहीं समझ पाते । कबीरदास से अधिक जोरदार शव्दों में एकता का प्रतिपादन किसी ने नहीं किया । " [36]

इस दृष्टि से कबीर सिर्फ कवि न होकर एक पैगम्बर , धर्म सुधारक , उपदेशक एवं सच्चे भक्त थे जो मानव मात्र के कल्याण हेतु ही आये थे । कबीर मानव मात्र के दुःख से पीड़ित होकर उसकी सहायता मात्र के लिए उठे थे । उनकी अजस्र काव्यधारा में जनता के दुःख और उसकी वेदना कूट-कूट कर भरी थी । कबीर ने

समाज की विषमताओं पर तीखे प्रहार किये हैं लेकिन इन तीखें प्रहारों में कहीं भी विद्रोह , हीनता या वैमनस्य का भाव नहीं है । उनकी कटु उक्तियों में भी द्वेष या आत्मश्लाधा नहीं मिलती, लेकिन इन तमाम विषमताओं के वीच स्वयं की आत्मा को शुद्ध रखने का आत्मविश्वास ज़रूर झलकता है । सुर नर मुनि की आत्मिक शुध्धता को चुनौती देते हुए वे कहते है कि -

" सो चादर सुर नर मुनि ओढी, ओढ़ि कै मैली कीनी चदरियां ।
दास कबीर जतन से ओढ़ि , ज्यों कि त्यों घर दीनी चदरिया । "

कबीरजी की पावन वाणी आज के समाज और विषमता के परिप्रेक्ष्य में उतनी ही खरी एवं तेजोमय तथा उपयोगी है जितनी उस काल में थी । आज भी धर्म के बाह्याडंबर समाज में वैमनस्य को बढ़ावा देकर समाज को विभक्त कर रहे हैं । जब तक यह विषमताएँ समाज को जकड़े रहेगी तब तक कबीर की वाणी हमें सत्य का दर्शन कराती रहेगी । भौतिकवाद और धर्म एवं जातियों के विष जाल से निजात पाने के लिए कबीर के ये अमृत वचन मुक्तिपथ का मार्ग आलोकित करते रहेंगे ।

3.3.2 रैदास

मध्यकालीन भक्ति काव्यधारा में रैदास या रविदास कबीर के बाद निर्गुण भक्तिधारा के सबसे बड़े सन्त कवि है । कबीर की भाँति रैदास भी काशी के रहनेवाले माने जाते हैं । यह एक संजोग ही कह सकते हैं कि जिस ब्राह्मणवाद का इन सन्त कवियों ने जोरदार विरोध किया उसका मुख्य केन्द्र भी काशी ही रहा है और उसका विरोध करनेवाले सन्त भी काशी से ही जुड़े हुए हैं । रैदास के आविर्भाव काल को लेकर विविध मतमतांतर प्रचलित है । लेकिन प्रायः सभी विद्वान रैदास को कबीर का समकालीन मानते हैं और इसके आधार पर रैदास का जन्म भी १५ वीं शताब्दी के मध्ययुग में माना जा सकता है । रैदासी पंथियों में उनके जन्म के संबंध में यह विश्वास प्रचलित है कि-उनका जन्म माघ पूर्णिमा को रविवार के दिन हुआ था ।

" चौदह सैं तैतीस की माघ सुदी पंदरास ।
दुखियों के कल्यान हित प्रगटे श्री रविदास ।। " [37]

'सन्तनि में रविदास सन्तः' कहकर कबीर ने जिनका महत्व स्वीकारा है, उस संतवर रविदास की जाति के बारे में बताया जाता है कि वे चमार जाति के थे, शूद्र थे । रविदास ने खुद ही अपनी जाति के बारे में स्पष्टता कर दी है -

' कह रैदास खलास चमारा । ' या ' ऐसी मेरी जाति विख्यात चमारा । ' [38]

रैदास के जन्म के बारे में 'भविष्य पुराण' में कहा गया है कि- " एक बार शनि, राहु तथा केतु ने कोप शान्त करने के लिए सूर्य से उनके दो पुत्रों को शूद्र के घर में जन्म लेने के लिए प्रेरित किया, जिसे 'सधना' नाम मिला, दूसरा पुत्र पिंगलापति मानदास नामक चमार के यहाँ उत्पन्न हुआ और इसे रैदास कहा गया । " [39]

रैदास दलित समाज से थे । उनकी पत्नी का नाम 'लोना' प्रचलित है । " राजस्थान , गुजरात एवं अन्य जगहों पर चमारों में लौणा या लोना देवी की पूजा का प्रचलन है । अन्य प्रमाण के आधार पर उनके पिता का नाम रग्घू , माता का नाम कर्मा या घुरबनिया और पत्नी का नाम लोना बताया जाता है । क्योकिं ये नाम दलित समाज के ज्यादा करीब है । दलितों में ऐसे ही सामान्य नाम रखने-रखवाने की परिपाटी रही है । " [40]

रैदास के रचनाकर्म पर दृष्टिपात करें तो 'सन्तवानी' में उनके कुटकल पदों को संग्रहीत किया गया है । साथ ही साथ शीखों के धर्मग्रंथ ' गुरु ग्रन्थ साहिब ' में उनके चालीस पद पाए जाते हैं । हरिनारायण ठाकुर के अनुसार " अब तक उपलब्ध ग्रन्थों के आधार पर रैदास के पदों की संख्या 177 तथा साखियों की संख्या 198 तक हो गयी है । " [41]

रैदास ने संसार के आतप-वितप से दूर अपनी सती-साध्वी पत्नी के साथ मामूली सी झोंपडी में रहकर , जूते-सी-सीकर आजीविका चलायी और मस्त फ़कीरी के साथ कर्तव्य-परायण होकर आत्मोद्धार के लिए भक्ति पथ अपनाया था । कबीर

की भाँति रैदास को भी तत्कालीन समाज व्यवस्था स्वीकार्य नहीं थी । समाज की मुख्यधारा की विचारधारा से उनका स्पष्ट विरोध था । समाज में व्याप्त वर्ण-व्यवस्था और जाति-पांति के भेदभावों से वे अत्यंत क्षुब्ध थे । जन्म के आधार पर वर्ण का निर्धारण करना उनको खटकता था । उनका मानना था कि जन्म के आधार पर कोई नीच नहीं होता । कर्म ही इन्सान को ऊँच-या-नीच बनाते हैं ।

" रविदास जन्म कारनै , होत न कोउ नीच ।
नरकूं नीच करि डारि है , ओछे करम को कीच ।। " 42

मानव के गुण कर्मों को महत्त्व देते हुए रैदासजी ने स्पष्ट कर दिया कि-

" रैदास न ब्राह्मन पुजिये जऊ होये गुनहीन ।
पूजै चरन चण्डाल के , जऊ होये गुन प्रवीन ।।
जनम-जाति कूँ छोडि कै,करनी जान प्रधान।
इहौ वेद को धरम है ,कह रैदास बखान ।।
ब्राह्मन, खत्री, वैश्य, सूद रैदास जनम से नाहि ।
जो चाहे सुबरन कऊ , पावै करमन माहि ।।
ऊँचे कुल का जनमिया , ब्रह्मन होय न कोय ।
जो जन ब्रह्मन आत्मा , रैदास ब्रह्म होय ।।
रैदास सुकरमन करत से , नीच ऊँच होय जात ।
करहि कुकरम ऊँच भी , महानीच कहलाय ।। " 43

संतवर रैदासजी का मानना था कि समाज में व्याप्त जाति व्यवस्था ही मानव के एक दूसरे से प्रेम बंधन में जुड़ने में बाधक है -

" जात-जात में जात है , ज्यों केलन के पात ।
रविदास न मानुष जुड़ सकें , ज्यों जो जात न जात । "

वर्ण-व्यवस्था और जाति-पांति के भेदभाव की जननी धार्मिक कट्टरता का उन्होंने पूर्ण रूप से विरोध किया है । धर्म के ढकोसलों का उन्होंने स्पष्ट विरोध किया और

कहा कि ईश्वर प्राप्ति के कई रास्ते हो सकते हैं लेकिन पाखंड से प्रभु की प्राप्ति संभव नहीं है ।- " माथै तिलक हाथ जपमाला / जग ठगने कुँ स्वाँग बनाया ।

मारग छोडि कुमारग डइके / साँचि प्रीति बिनु राम न पाया । "

जन साधारण की भाषा में पाखंडो को ललकारते हुए वे कहते हैं कि-

" ऐसी भगति न होई रे भाई । / राम नाम बिन जो कुछ करिये सो सब भरम गवाई

भगति न रसदानि भगति न कथैज्ञान / भगति न बन में गुफ़ा खुदाई

भगति न निंद्रा साधे , भगति न वैराग बाँधे । / भगति न ये वेद बडाई ।

भगति न मुंड मुडाये , भगति न गुणी कहाये ।

भगति न तो लो जावा , जो नौ आपको आप बखाना । " [44]

मूर्तिपूजा तीर्थ यात्रा और कर्मकाण्डों को पूर्ण रूपसे खारिज करते हुए वे कहते हैं कि-

" कहाँ भये नाचे अरु गाये , कहाँ भये व्रत कीन्हे ।

कहाँ भये जे चरन पखारे , जोलौं तत्व न चिन्हे ।।

का मथुरा , का द्वारिका , का काशी हरद्वार ।

रैदास दिलही मा खोजिये तहं मिलिया दिलदार ।।

मस्जिद सो कुछ घिन नहि , मन्दिर सो नहीं प्यार ।

यामहँ अल्लह राम नहिं , कह रविदास विचार ।। " [45]

रैदास ने मनुष्य की चारित्रिक उच्चता को और शुध्धता को जीवन का आधार बताकर उसीको सच्चा सुमिरन माना है ।

" संत , संतोष अरु सदाचार जीवन के आधार ।

रविदास भए नर देवता , जिन त्यागे पंच विकार । " [46]

हरिजन करि सेवा लागैं , मन अहंकार न राखै ।

रविदास शूद्र सोई धन है , जइ असत वचन न भाखै ।। [47]

रैदास के समय में समाज में अनेक धर्म एवं पंथ-सम्प्रदाय अपनी-अपनी खिचड़ी अलग अलग पका रहे थे । और इन सभी सम्प्रदायों एवं धर्मों में

बाह्याडम्बरों का , दिखावे का जोर था इसलिए धार्मिक एवं सांप्रदायिक विद्वेष अपने चरम पर था। समाज के ऐसे हालत ने संत रैदास को प्रभावित किया। उनको लगा कि धर्म की मान्यताओं में परिवर्तन के बिना कोई भी सुधार संभव नहीं है। धर्म से स्वतंत्र होकर कोई भी सामाजिक विचार सफल नहीं रहेगा। अतः उन्होंने सब मनुष्यों को एकता एवं सोहार्द का संदेश दिया। तत्कालीन प्रमुख धर्म हिन्दू और इस्लाम में एकता और सामंजस्य का संदेश देकर उन्होंने कहा कि -

" मंदिर मस्जिद एक है , इनमे अंतर नाहिं।
रैदास राम रहमान का , झगडऊ कोऊ नाहिं ।।
रैदास हमारा राम जोई , सोई है रहमाना।
काबा-काशी जान यहिँ , दोऊँ एक समाना ।। "

समग्र सृष्टि को उस एक ही परमात्मा की रचना कहकर समता एवं बंधुत्व का संदेश दिया। - " जो अविनाशी सबका करता , व्यापि रह्या सब ठौर रे।
पंच तत् किया पसारा , सो योहि किधो और रे ।। " [48]

अपनी इसी विचारधाराओं को लेकर रैदासजी ने एक पन्थ चलाया, जो' रैदासी पंथ' के नाम से प्रसिध्ध है। रैदास ने उस परम कृपालु परमात्मा को सर्व समर्थ बताते हुए कहा कि - " नीचहु उच्च करे मेरा गोबिंदु काहो ते न डरै।
नामदेव , कबीर , त्रिलोचन , सधना सैनु तरै। " [49]

इस प्रकार रैदास कबीर की तरह शुद्ध रूप से दलित, भक्त और सन्त थे जिन्होंने अपने सात्विक आचार-विचार और कर्ममय जीवन के द्वारा समाज सुधारक की भूमिका का भली-भांति निर्वहन किया। " रैदास की विचारधारा सन्त मत और सिध्धांतो के अनुरूप ही है। यधपि उनकी भक्ति श्रध्धा , समर्पण और विश्वास की भक्ति है ; उन्होंने कबीर की भाँति धर्म और समाज-व्यवस्था को चुनौती नहीं दी है ; फिर भी उन्होंने अपने पदों में व्यवस्था का सीधा विरोध किया है। उनके मन में व्यवस्था जनित पीड़ा है , क्षोभ है किन्तु आक्रोश और विद्रोह नहीं है , भेदभाव जनित पीड़ा ही उनका विद्रोह भाव है। " [50]

उन्होंने अपनी सीमाओं में रहकर सत्य को तर्क और चिंतन से उठाया है । प्रतिरोध को प्रतिशोध से नहीं , आत्मबल और आध्यात्मिक साधना से प्रखर बनाया है । उनके सपनों का समाज समानता एवं समता से युक्त था ।

" ऐसा चाहूँ राज में , जहूँ मिलई सबन कु अन्न ।
छाटे बड़े सब सम बसै , रैदास रहे प्रसन्न ।। " [51]

महात्मा रविदास ने अस्पृश्यता का तर्कपूर्ण विरोध करके अवर्णों को मेहनत या परिश्रम का संदेश दिया है । ' ताड़न के अधिकारी' वर्ग में आत्मविश्वास की ज्योत जलाकर मुक्ति का मार्ग आलोकित करने में रैदासजी सदैव प्रासंगिक बने रहेंगे ।

3.3.3 गुरु नानक

सिक्ख धर्म के प्रवर्तक और सिक्खों के आदि गुरु नानक नानक पातशाह , बाबा नानक , नानक देव आदि अनेक नामों से प्रसिद्ध हुए । उनका जन्म कार्तिक सुदी पूर्णिमा सं.1526 में लाहौर के तलबंडी, नामक स्थान में माना जाता है जिसे अब ' नानकाना साहब ' कहा जाता है । लेकिन हरिनारायण ठाकुर का मानना है कि उनकी "वास्तविक जन्म-तिथि वैशाख सुद 3 ही है । केवल सुविधा के लिए सिक्ख लोग पूर्णिमा को उनकी जयन्ति मनाते हैं । इस तिथि को बैशाखी भी कहते हैं । " [52]

इनके पिता कालूचन्द और माता का नाम तृप्ता था । इनका विवाह सुलक्षणी से हुआ । उनके दो पुत्रों में से श्रीचन्द आगे चलकर उदासीन संप्रदाय के आचार्य बन गए थे । नानकजी बचपन से ही अत्यंत साधू स्वभाव के थे । कबीर , रैदास , नामदेव आदि से मुलाकात होने पर उनका प्रभाव नानक पर पड़ा । अन्य संतो की भाँति उनकी शिक्षा-दीक्षा भी कुछ अधिक नहीं हुई । नानकजी का मानना था कि मुझे जो सीखना है वह इन वेद-पुराणों में नहीं है । एक दिन वे पाठ पढ़ने के बदले आँख मूँदकर चिन्तनमग्न बैठे थे । शिक्षक द्वारा न पढ़ने का कारण पूछने पर नानक ने बताया कि मैं जो पढ़ना चाहता हूँ , आप मुझे नहीं पढ़ा सकते । गुरूजी को गुस्सा

आया और कहा कि मैं तुझे वेद , पुराणादि सहित सभी विधाएँ पढ़ा सकता हूँ । इस पर नानक ने गुरुवाणी में कहा कि -

" जालि मोह घसि मसु करि , मति कागदु करि सारु ।
भाउ कल्ल करि चितु लेखारी , गुरु पुछि लिखु विचारू ।
लिखू नाम सलाह लिखु लिखु अन्त न पारावार ।। " [53]

इससे स्पष्ट होता है कि नानक कुछ विशिष्ट सिखना-सिखाना चाहते थे , जो वेद-पुराण नहीं सिखा पाते । वेदों-पुराणों में वर्णित आडंबरपूर्ण आचरणों का वे विरोध करते थे । वे अंध विश्वासों में बिलकुल नहीं मानते थे । उनके जीवन की एक घटना है कि 9 साल की आयु में ही उन्होंने यज्ञोपवित संस्कार का विरोध किया था-

" दईया कपाह सन्तोखु सुतु जतु गढ़ी सतु बटु ,
एहु जनेऊ जी अका हई पांडे धतु ।
ना एहु तुहै न मलु लगै ना एहु जले न जाई ।। " [54]

अर्थात् हे पंडित ! यदि तुम्हारे पास ऐसा कोई जनेऊ हो जिसमें दया का कपास हो, संतोष का सूत हो, संयम की गाँठ हो और सत्य की पूरन हो, तो मेरे गले में पहना दो । वह जनेऊ जो टूटता न हो, न उसमें मैल लगता हो, न जलता हो और न खोता हो ऐसा जनेऊ मैं पहनने को तैयार हूँ । नानक ने ऐसे धार्मिक आडम्बरों की अपेक्षा आचरण की शुध्धता पर ज्यादा ज़ोर दिया । उनका मानना था कि उस परम कुपालु परमात्मा को ऐसे बाह्य साधनों से नहीं प्राप्त किया जा सकता, उसके लिए तो आत्मा की शुध्धि और व्यवहार की पवित्रता ज़रूरी है । गुरु नानक की शिक्षा का सार हम इस वाणी में देख सकते हैं ।

" जो नर दुःख नहिं माने / सुख सनेह अरु जाके , कंचन माटि जानै ।।
नहीं निन्दा नहिं अस्तुति जाकें , लोभ मोह अभिमान ।
हरष सोक ते रहे नियारौ , नाहिं मान अपमान ।
आसा मनसा सकल त्यागि कै जग तें रहे निरासा ।
काम क्रोध जेहि परसै नाहिन तेहि घट ब्रह्म निवासा ।।

गुरु किरपा जेहि नर पै कीन्ही तिन्ह यह जुगुति पिछानी ।
नानक लीन भयो गोविन्द सों ज्यों पानी संग पानी ।। " [55]

अपने इसी संदेश को लेकर इन्होंने दूर-सुदूर देश विदेशों की यात्राएँ की जिनको 'उदासी' कहा जाता है। इन्ही 'उदासियों' के द्वारा उन्होंने अपने मत का प्रचार-प्रसार किया और सच्ची भक्ति एवं मानवता मार्ग प्रशस्त किया । नानक ने कर्मकांडियों को भक्ति का सरल मार्ग कर्म बताया और कर्ममय भक्ति का उपदेश दिया । गुरु नानक तत्कालीन समाज में विश्व के दो बड़े धर्म हिन्दू एवं इस्लाम में व्याप्त विकृतियों एवं विसंगतियों से अत्यंत दुःखी हो गए थे और शायद यह भी एक वजह थी कि उन्होंने एक नये धर्म सिक्ख धर्म का प्रवर्तन किया । वस्तुतः विचार , दर्शन और " ईश्वर के स्वरूप को लेकर सिक्ख और इस्लाम के दर्शन के बीच वही झीना आवरण है , जो वेदांत और कुरान के बीच है / सिक्खों का ईश्वर निरंकारी है , वह एक है । इस्लाम या सूफियों के ईश्वर की भी यहि विशेषता है । सिक्ख धर्म अवतारवाद , मूर्ति पूजा , जात-पाँत , ऊँच-नीच आदि नहीं मानता । इस्लाम भी इसका विरोधी है । सिक्खों की वेशभूषा सूफियों से मिलती है । सिक्खों की उपासना के चारों अंग सरन-खंड ,ज्ञान-खंड , करम-खंड और सच खंड तो सूफियों के चार मुकामात शरीअत , मारफत , उकबा और लाहूत की ही तरह है । " [56]

साथ ही साथ ध्यान देने योग्य बात यह भी हे कि सिक्ख धर्म के कर्मफल , पुनर्जन्म, निर्वाण और माया आदि का सिध्धांत बौध्ध और हिन्दुओं की तरह ही है । इस प्रकार नानक की विचारधारा में हिन्दू और मुस्लिम दोनों का समन्वय मिलता है । इसलिए नानक को हिन्दू या मुसलमानों का सन्त न कहकर मानवमात्र का सन्त मानना ही लाज़िमी लगता है ।

गुरु नानक एक असाधारण सन्त थे । वे एक ही साथ पैगम्बर , दार्शनिक , योगी , गृहस्थ , त्यागी , धर्मगुरु , समाजसुधारक , कवि और अन्ततः मानवता के सच्चे सेवक थे । उन्होंने मनुष्य मात्र को समता और बंधुत्व की सीख देकर मुक्ति एवं

भक्ति का मार्ग दिखाया है और उनकी यही विचारधारा उन्हें दलित चेतना के पक्षधर एवं प्रचारक सिध्ध करती है।

3.3.4 धर्मदास

कबीरदास के प्रधान शिष्य धर्मदास सन्त साहित्य में महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। कबीर की विचारधारा को आगे बढ़ाने में और समाज में उसको प्रासंगिक बनाने में कबीर के इस मर्मज्ञानी शिष्य का बहुत बड़ा योगदान रहा है। अपनी जातिगत हीनता के कारण अपने मन में पनपते अपमान बोध को उन्होंने अपने गुरु कबीर के सामने रखा । भारतीय समाज व्यवस्था और जाति-भेद के बारे में उनकी विचारधारा को कबीर की वाणी में पुष्ट किया । उन्होंने धर्म संबंधी अपनी जिज्ञासाओं को शांत किया। यही कारण है धर्मदास का साहित्य संवाद शैली में मिलता है। कबीर के पदों के संग्रह का श्रेय भी धर्मदास को ही जाता है। धर्मदास ने अपने बारे में लिखा है- " बाँधो गढ़ है गाम , नाम धर्मदास कहीजै।

वैश्यकुली कुल जाति , शूद्र नहीं बात सुनीजै ।। " [57]

अपनी जातिगत हीनता के कारण हुए अपमान बोध और तद्जनित विद्रोह भाव का उत्स उक्त पद में स्पष्ट दिखाई देता है। " कहा जाता है कि उनके जात-पाँत, पूजा-अनुष्ठान आदि संबंधी विरोधी मतों के कारण उनके जन्म स्थान बाँधोगढ़ के तत्कालीन राजा ने धर्मदास को सजा देनी चाही। पर कबीर का स्मरण करने पर ऐसा नहीं कर सके। " [58]

कबीर के मूर्ति-पूजा,तीर्थाटन,देवार्चन और जात-पाँत संबंधी विचारों ने धर्मदास को अत्यंत प्रभावित किया था। कबीर की भाँति वे भी अपने निर्गुण-निराकार ब्रह्म में तन्मय रहते थे।

" सुतल रहली मैं सखियाँ तो विष कर आगर हो।
सतगुरु दिहलै जगाई , नाचौ सुख सागर हो ।। " [59]

कबीर से अत्यंत प्रभावित होने के कारण प्रायः उनके और कबीर के पदों में काफ़ी समानता देखने को मिलती है । और उन दोनों में अंतर करना मुश्किल हो जाता है । अन्योक्ति की व्यंजना और प्रेम-तत्व की प्रधानता धर्मदास रचित पदों की विशेषता है- " झरि लागै महलिया गगन घहराय / खन गरजै , खन बिजली चमकै ,

लहरि उठै सोभा बरनि न जाये / सुन्न महल से अमृत बरसै ,
प्रेम आनन्द है साधु नहाये / खुली केवरिया ,मिटी अँधयरिया,
धनि सतगुरु जिन दिया लखाय / धरमदास बिनबै कर जोरी ,
सतगुरु चरन में रहत समाय ।। " [60]

धर्मदास के बारे में रेवरेंड एफ.ई.की ने लिखा है कि - " धर्मदास केवल धनी और साहित्य मर्मज्ञ नहीं थे वरन् चरित्र के सुद्रढ़ सन्त थे । इसमें कोई संदेह नहीं कि कबीर-पन्थ के प्रसार का बहुत बडा श्रेय धर्मदास को है । कबीर के बाद धर्मदास ही कबीर पन्थ के प्रधान नेता है । " [61] कबीर के क्रांतदर्शी विचारों का प्रवहन और निर्वहन धर्मदास के चरित्र की विशिष्ट उपलब्धि मानी जानी चाहिए ।

3.3.5 दादू दयाल

निर्गुणिया संत परंपरा में कबीर के बाद दादू दयाल का भी एक महत्वपूर्ण स्थान माना जाता है । कबीर विचारधारा के वारिसों में दादू दयाल भी उल्लेखनीय है । यह एक अजीब बात है कि कबीर की भाँति दादू के जन्म की भी ऐसी ही किवदंती प्रचलित है । " कहा जाता है कि कबीर की भाँति ये भी किसी ब्राह्मणी की अवैध संतान थे , जिन्हें अहमदाबाद की साबरमती नदी में बहा दिया गया था । किसी धुनिये को वह शिशु मिला और उसीने उसका लालन-पालन किया। लेकिन अधिकांश विद्वान इस मत से सहमत है कि दादू जन्मना धुनिया (नीच जाति) थे । " [62]

दादू ने अपने पदों में कबीर साहब का नाम बड़ी श्रध्धा एवं आदर के साथ लिया है , अतः उनका कबीर के मतानुयायी होना स्पष्ट है । निर्गुण संत परंपरा के

अन्य संतो की तरह वे भी अपने जीवन में भ्रमण करते रहे और अन्त में जयपुर के पास नरैना में देहत्याग किया जो दादू पंथियों के लिए सबसे बड़ा तीर्थ है। दादू स्वयं निर्गुण निराकार ब्रह्म के उपासक थे इसलिए मूर्ति-पूजा जैसे आडम्बरों एवं कर्मकाण्डों में उनका विश्वास नहीं था। उनकी इसी विचारधारा का अनुसरण करते हुए दादू पन्थ के लोग भी न तिलक लगाते हैं , न कंठी पहनते हैं और न ही किसी मन्दिर-मस्जिद में जाते हैं। वे हाथ में सुमरनी रखते हैं और ' सतनाम ' लेकर एक दूसरे का अभिवादन करते हैं। निर्गुणवादियों की तरह ईश्वर की सर्वव्यापकता , सतगुरु की महिमा , जाति-भेद , हिन्दू-मुस्लिम साम्प्रदायिकता आदि का खंडन और आत्मबोध द्वारा ईश्वर चिन्तन आदि इस पन्थ की विशेषता है। [63]

दादू भी समाज में व्याप्त जातिप्रथा से खिन्न थे। वे मानव-मात्र को उस परम पिता परब्रह्म की संतान मानते थे और उनमें भेद स्वीकार नहीं करते थे। दादू की विचारधारा इन सब के खिलाफ़ थी।

" घीव दूध में रमि रहा,व्यापक सब ही ठौर।
दादू बकता बहुत है , मथि काढ़ै ते और ।।
यह मसीत यह देहरा सतगुरु दिया दिखाई।
भीतर सेवा बंदगी बाहिर काहै जाइ ।। " [64]

समाज में व्याप्त कुप्रथाओं के विरोध में दादू ने अपनी रचनाओं में अपनी छटपटाहट व्यक्त की है। " इनके अनेक ग्रन्थ माने जाते हैं , पर उनमें 'अनभैवाणी' सबसे प्रमुख है। यह एक संग्रह ग्रन्थ है जिसमें इनकी साखी संग्रहीत है। इनके उपदेश कबीर के समान ही है। ये निर्गुण , निराकार ब्रह्म के उपासक हैं। वैष्णवों की अहिंसा , योगियों का चितवृत्ति निरोध , सूफियों की प्रेम साधना , नाममहात्म्य , संसार का मिथ्यात्व आदि इनके प्रधान विषय है। " [65]

दादू ने सांप्रदायिक कट्टरता का विरोध करके साम्प्रदायिक एकता पर ज़ोर दिया। उनका मानना था कि सबके आराध्य चाहे राम हो या रहीम या पीर, पैगम्बर

या ईश्वर, सब एक ही है । यहाँ तक के कीट-पतंगों को भी वही पालता है । यह संसार उसीकी निर्मिति है अतः जन्म और योनि के आधार पर भेदभाव करना व्यर्थ है। हिन्दू-मुस्लिम की एकता पर बल देते हुए उन्होंने कहा है कि -

" हिन्दू तुरक न जाणों दोई ।
सांई सबनि का सोई है रे , और न दूजा देखैं कोई ।।
कीट-पतंग सबै जोनिन में , जल थल संगि समाना सोई ।
पीर पैकंबर देवा दानव मीर मलिक मुनि जन कौं मोहि ।।
करता है रे सोई चीन्हौं , जिंनि वै क्रोध करै रे कोई ।
जैसे आरती मंजन कीजै , रांम रहीम देही तन धोई ।
सांईं केरी सेवा कीजै , पायौ धन काहे कौ खोई ।
दादू रे जन हरि जपि लीजै , जनमि-जनमि जे सुरिजन होई ।। " [66]

अपने-अपने आराध्य को सब अलग-अलग नामों से पुकारते हैं , कोई शेख कहता है , तो कोई पीर फकीर , कोई राम कहता है तो कोई अल्लाह लेकिन राम और रहीम तक पहुँचने का यह मार्ग नहीं है , ऐसा उपदेश देते हुए दादू कहते हैं कि कोई इस धुनिए (दादू) की बात नहीं मानता-

" को स्वामी को सेख कहै / इस धुनिये का मर्म न कोई लहै ।।
कोई राम कोई अलह सुनावै , पुन अलह रांम का भेद न पावै ।।
कोई हिन्दू कोई तुरक करि मानैं , पुनि हिंदू तुरक की खबरि न जानैं ।।
यहु सब करणीं दुन्यँ बेद , समझि परी तब पाया भेद ।।
दादू देखे आतम ए, कहिबा सुनिबा अनन्त अनेक ।। " [67]

दादू के अनुसार मानव मानव एकता ही प्रभु भक्ति एवं प्रभु प्राप्ति का सर्वश्रेष्ठ मार्ग है । आपस में भेद-भाव करके कोई भी मनुष्य राम या रहीम तक नहीं पहुँच सकता ।

3.3.6 नरसिंह महेता

ऐसे सन्त महात्मा जो दलित जाति से नहीं थे लेकिन फिर भी उनको दलितों प्रति विशेष लगाव रहा है और दलित , पीड़ित और शोषित मानवता के लिए तन-मन-धन से कार्य किया है , उनमें गुजरात के सुप्रसिद्ध संत कवि नरसीं महेता महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं।

नरसिंह नागर ब्राह्मण थे लेकिन फिर भी दलितों के प्रति उसका विशेष झुकाव था और इसी झुकाव के कारण आगे चलकर नागर ब्राह्मणों ने उनका जातीय बहिष्कार कर दिया था । केवल जाति को आधार बना कर मनुष्य का तिरस्कार और घृणा करनेवाले लोगों से वे बहुत दुःखी थे । सामाजिक विसंगति और भेदभाव का कितना गहरा दुःख था इस ब्राह्मण समाज सुधारक में, वह हमें उनकी इन पंक्तियों में देखने को मिलता है -

" निरधन ने वणली नात् नागरी / हरि न आपीश अवतार रे । " [68]

अर्थात् हे प्रभु ! मुझे निर्धन बनाना हो तो बना देना , किन्तु नागर जाति में दूसरी बार जन्म न देना । यह कहना अतिशयोक्ति न होगी की भारत में नव जागरण और समाज-सुधार की जो इनती बड़ी क्रांतिकारी चेतना दिखाई पडी , उसके कारण भगत नरसिंह जैसे सन्त और महात्मा ही थे । उन्होंने जन्म आधारित जाति प्रथा को निरस्त करते हुए कह दिया कि -

" वैष्णव जन तो तेने रे कहिए / जे पीर पराई जाणे रे ,
पर दुःखे उपकार करे तोये / मन अभिमान न आणे रे.. । "

अगर किसी नीच जाति के व्यक्ति में भी यदि ये गुण है तो वह महान है 'वैष्णव' है । नरसिंह का जीवन भी अनेक संतापों से भरा रहा जिसके मूल में उनका दलित प्रेम ही था । वे निःसंकोच अछूत बस्तियों में भजन-कीर्तन करने जाया करते थे इसीलिए उन्हें पहले घर से और बाद में नागर जाति से बहिष्कृत कर दिया गया । लेकिन फिर भी उन्होंने अछूतों और दीन-दुखियों की सेवा तथा दलित मानवता के

पक्ष में अपने कल्याण-कार्यों को जारी रखा । घर से निकाल दीये जाने पर वे अपनी पत्नी एवं बच्चों के साथ एक पुराने घर में रहे । उन्होंने अपने पुत्र-पुत्रियों के शादी-ब्याह भी किये । माना जाता है इनके सारे प्रसंग भगवान ने स्वयं ही सहायता करके पूरे किये । उनकी पुत्री कुँवरबाई की गोदभराई की रसम में नरसिंह की और से 'मामेरू' लेकर स्वयं कृष्ण गए थे । वहाँ नहाने के लिए केवल गर्म पानी देने पर राग मल्हार गाकर वर्षा करना , भगवान की मूर्ति से हार स्वयं ही उनके गले में आ जाना आदि अनेक किवदन्तियाँ उनके संबंध में प्रसिद्ध हैं । कहा जाता है की उपहास हेतु नगर में आये व्यापारियों को ब्राह्मणों ने नरसिंह का नाम बताकर कहा कि यहाँ सिर्फ वे ही हुँडी लिख देते हैं , द्वारिका में उनका अत्यंत धनिक शेठ है । तब व्यापारियों को निर्धन नरसिंहने कृष्ण प्रभु के नाम की हुँडी लिख दी थी ।

" म्हारी हुँडी स्वीकारो महाराज रे.. शामळा गिरधारी ।
मारी हुँडी शामळिया ने काजे रे... शामळा गिरधारी ।। "

माना जाता है की भगवान कृष्ण ने स्वयं नरसिंह मेहता की इस हुँडी का स्वीकार किया था और द्वारिका में उन व्यापारियों को धन दिया था । कुछ भी हो नरसिंह का कृष्ण में अटूट विश्वास था जो कभी गलत सिध्ध नहीं हुआ । अन्य निर्गुण संतो की भाँति वे भी तीर्थाटन में नहीं मानते थे और संसार के कण-कण में ईश्वर का निवास देखते थे -

" अखिल ब्रह्मांड मां एक तू श्री हरि / जुजवा-जुजवा रुपे भासे । "

उन्होंने उसी परम तत्व को अलग-अलग रूपों राम-रहीम आदि में देखा है । भक्ति और सुमिरन ही उनके जीवन का एक मात्र लक्ष्य था इसलिए जब एक के बाद एक कर उनकी पत्नी और पुत्र की भी मृत्यु हो जाती है तब वे सांसारिक जीवन से निर्मोही होकर कह उठते हैं कि -

" भलुं थयुं भाँगी जंजाल / सुखे भजीसुं श्री गोपाल ।। "

प्रसिद्ध दलित चिंतक माता प्रसाद नरसिंह महेता को गुजरात के आदि कवि मानते हुए कहते हैं कि- " इन्होंने मद्यपान मांसाहार का निषेध किया था, वे दलितों

की बस्तियों में जाकर भजन गाते थे, इसलिए इनकी जाति के नागर ब्राह्मणों ने इनका बहिष्कार कर दिया। इसी में दलित साहित्य की भूमि तैयार हुई।" [69]

नरसिंह को खुद दलित जाति से न होते हुए भी उनके दलित प्रेम ने उन्हें 'दलित' बना दिया और इसलिए इसके प्रतिरोध की भूमि तैयार करने में नरसिंह साहित्य महत्वपूर्ण स्थान रखता है।

3.3.7 संत पीपाजी

नरसिंह मेहता की तरह राजस्थान के गागरोन दुर्ग के शासक संत पीपाजी की वाणी भी मध्यकालीन युग में दलित चेतना को अभिव्यक्त करने में महत्वपूर्ण स्थान रखती है। पीपाजी का जीवनवृत भी सम्राट अशोक के जीवन के समान रहा। "उनका जन्म १४ वीं सदी के अंतिम दशकों में गागरोन के खीची राजवंश में हुआ था। वे गागरोन राज्य के एक वीर ,धीर और प्रजापालक शासक थे। शासक रहते हुए उन्होंने दिल्ली के तत्कालीन सुल्तान फ़िरोज तुगलक से लोहा लेकर विजय प्राप्त की थी, किन्तु युद्धजन्य उन्माद, हत्या, लूट-खसोट के वातावरण और जमीन से जल तक के रक्तपात को देख उन्होंने तलवार तथा गागरोन की राजगद्दी का त्याग कर दिया था। ऐसे त्याग के तत्काल बाद उन्होंने काशी जाकर स्वामी रामानन्द का शिष्यत्व ग्रहण किया। शिष्यत्व की कठिन परीक्षा में सफल होकर वे स्वामी रामानन्द के बारह प्रधान शिष्यों में स्थान पाकर संत कबीर के गुरुभाई बने।" [70]

उन्होंने अपनी पत्नी सीता सहचरी के साथ संत मंडलियों के साथ अनेक स्थानों का भ्रमण किया और पर पीड़ा की अनुभूति करानेवाली वैष्णव विचारधारा को जन-जन तक पहुँचाया। " नरसिंह महेता ने उनकी इसी विचारधारा से प्रभावित होकर "वैष्णव जन तो तेने रे कहिए ,जे पीर पराई जाणे रे " पद लिखा , जो महात्मा गाँधी के जीवन में भी प्रेरणादायी सिद्ध हुआ।" [71]

पीपाजी को निर्गुण भक्तिधारा के संत कवि कहा जाता है। निर्गुणपंथी संतो के समान उन्होंने अपनी वाणी में गुरु की महिमा का चित्रण किया।

" पीपा के पंजरि बस्यौ रामानँद को रूप /
सबै अन्धेरो मिटि गयौ , देख्यौ रतन अनूप ।।
लोह पलट कंचन करयौ , सतगुरु रामानँद ।
पीपा पद रज है सदा , मिटयो जगत को कंद ।। " [72]

संत पीपाजी धार्मिक बाह्याडम्बरों , थोथे कर्मकाण्डों और जड़ रुढियों के प्रबल विरोधी थे । उनके अनुसार ईश्वर को ढूँढने के लिए इधर-उधर भागते रहने की कोई ज़रूरत नहीं है । ईश्वर तो हमारे शरीर के अंदर घट-घट रमता है । अपने शरीर में समस्त निधियों और सिद्धियों का वास है । अपनी काया ही काबा और कैलास है । इसी भाव भूमि पर आधारित उनका एक पद सिक्खों के धर्म ग्रन्थ गुरु ग्रन्थ साहिब में भी समादृत है । जिसका भावानुवाद कुछ इस तरह किया जा सकता है -

" अनत न जाऊँ राजा राम की दुहाई / कायागढ़ खोजता मैं नौं निधि पाई ।।
काया देवल काया देव,काया पूजा पाँती/काया धूप दीप नइबेद,काया तीरथ जाती ।।
काया मांहै अड़सठि तीरथ,काया मोहे कासी / काया माँहे कंवलापति , बैकुंठवासी ।।
जे ब्रह्मांडे सोई प्यंडे , जो खोजे सो पावै /
पा प्रणवै परमततरे , सदगुरु मिलै लखावै ।। " [73]

इसके द्वारा उन्होंने दलितों को बताया है कि यदि आपका मंदिर प्रवेश वर्जित है , तो वहाँ ईश्वर है भी नहीं अतः अपनी काया की ही पूजा करो वहीं पर भगवान का वास है , आपको मंदिर में जाकर अपमानित होने की कोई जरुरत नहीं है । अपने गुरुभाई कबीर का पूरा-पूरा प्रभाव उनके व्यक्तित्व पर पड़ा था । अतः आडम्बर पूर्ण तरीके से विविध वेशभूषा पहनकर अपने को संत कहलवाने वाले धूर्त लोगों को आड़े हाथों लेते हुए उन्होंने कहा कि -

" पीपा जिनके मन कपट, तन पर उजरो भेस।
तिनकौ मुख कारौ करौ, संत जना के लेख॥ " [74]

धर्म के पाखंडियों के द्वारा प्रस्थापित और प्रचारित मान्यताओं का खंडन करके उन्होंने बताया की समस्त सुष्टि में एक ही परमतत्व सर्वव्यापी है । इसीलिए

मानव-मानव में भेद करना व्यर्थ है । पीपाजी के चिंतन के अनुसार एक परात्पर ब्रह्म, राम के प्रति आस्था पर बल दिया गया है । उनका मानना है कि जब वह तत्व सर्वव्यापी है तो फिर विप्र, शूद्र का अंतर कैसा ?

" संतौ एक राम सब मांही ।
अपने मन उजियारों , आन न दिखे कांही ।।
एकै धाम रुधिर अर साँसा , छोह मोह तन मांही ।
एकौ मात पिता सबही कै , विप्र छुद्र कोई नाहीं ।
पीपा जो जन भरम भुलाने , तै ढूलरात सदां ही ।। " [75]

पीपाजी के लिए सब मानव उसी परम तत्व के अंश है, उसकी संतानें हैं, इसलिए उनमें भेदभाव करना व्यर्थ है। शूद्रों के लिए उस जमाने में भगवद् भजन पर भी पाबंदी थी तब पीपाजी के जीवन का यह प्रसंग उनके समदर्शी स्वभाव का परिचायक बनता है । "एक बार वे दोसा में श्री रंगजी भक्त के आश्रम में बैठे थे , उसी समय दो शूद्रा (हरिजन) स्त्रियाँ वहाँ आईं । वे अति सुंदर थीं । पीपाजी ने उन्हें अपने पास ससम्मान बैठाया तथा उनसे कहा कि - वे अपना रूप रंग राम की भक्ति नहीं करके व्यर्थ गँवा रहीं है । रंगजी ने उनसे कहा कि- वे नीच जाति की है । तब पीपाजी ने उनसे कहा मैं इन्हें दीक्षा दूँगा ताकि इनका यह लोक और परलोक सुधर जाएगा । ऊँच-नीच का भेद समाप्त करने के लिए ही मैंने इन्हे बुलाया है । अन्ततः उन्होंने दोनों स्त्रियों को दीक्षा प्रदान कर उस युग में ऊँच-नीच और जनमत के भेद को समाप्त किया । " [76]

नारी उत्कर्ष के क्षेत्र में भी पीपाजी का योगदान उल्लेखनीय है । सामजिक परदा प्रथा का उन्होंने कठोर विरोध किया । तत्कालीन राजपूत राजाओं में पर्दा प्रथा का घोर प्रचलन था । इसके विरोध में उन्होंने अपनी पत्नी सीता सहचरी को आजीवन बिना पर्दे ही रखा । पीपाजी का मानना था कि यदि मन विकारों से मुक्त हो तो पर्दा करने की कोई आवश्यकता नहीं है -

" जहां पड़दा तही पाप, बिन पडदै पावै नहीं ।

जहां हरि आपै आप, पीपा तहां पड़दौ किसौ ॥" [77]

पीपाजी के व्यक्तित्व की इस विशेषता को उजागर करते उए विद्वान मेक्स आर्थर मैकालिफ़ ने लिखा कि - " Probably the first effort in modern times in India to abolish the tyranny of Parda by PIPA ." [78] संत पीपा की वाणी में लोक कल्याण एवं लोकमंगल केन्द्र में रहे हैं । उनकी लोक समन्वय की भावना भी अद्वितीय है । उनकी वाणी आचरण में उतारने योग्य है । ऐसी महान विभूति की अभ्यर्थना करते हुए नाभादास ने भक्तमाल में सही ही कहा है कि -

" परसि प्रणाली सरस भई , सकल बिस्त मंगल कियौ ।

पीपा प्रताप जग बासना , नाहर कौ उपदेस दियौ ।। " [79]

पीपाजी ने अपनी रचनाओं में लोक कल्याण हेतु भक्ति एवं सामाजिक समन्वय के भावों का आकलन किया है । आज जब कि समाज में मानवता विरोधी ताकतें सक्रिय हो रही हैं , तब पीपा की वाणी अखंड मानवता तक पँहुचने के मार्ग को आलोकित करती है ।

3.3.8 सुन्दरदास

दादू दयाल के प्रमुख शिष्य सुंदरदास ने ग्यारह वर्ष की आयु में ही काशी जाकर शास्त्रादि की शिक्षा प्राप्त की थी । वे 18 वर्ष तक काशी में रहकर संस्कृत , व्याकरण ,वेदान्त , पुराण आदि अनेक शास्त्रों में निपुण बने । १२ वर्षों तक उन्होंने एकान्त में रहकर योगाभ्यास भी किया था और देशाटन भी खूब किया । वे सन्त कवियों की विचारधारा से बहुत प्रभावित थे और उन्होंने इसे हिन्दी में अभिव्यक्ति करने का कार्य किया । यह एक आश्चर्य की बात रही कि शास्त्रों के ज्ञाता होने के बावजूद उन्होंने 'कागद की लेखी' की जगह अनुभवज्ञान को अधिक महत्व दिया । उन्होंने सब मानवों में एक ही ब्रह्म का निवास माना है और अलग-अलग शरीर में

अलग-अलग रूप से वही परब्रह्म को देखा है । इसलिए कुल,गोत्र वर्ण और आश्रमों को उन्होंने मिथ्या कहा है ।

" वैसे ही सुन्दर ऊँच-नीच मध्य एक ब्रह्म ।
देह भेद देखि भिन्न-भिन्न नाम धर्यो हो ।।
नाही कुल गोत्र का मानी , ना वर्ण और आश्रम ।
प्रभु जिसका सब स्वरूप , उसका सब कामो का क्रम ।। " [80]

सुन्दरदास ने भी मानव-मानव के बीच व्याप्त भेदभावों के व्यर्थ बताकर मानवमात्र को एक समान माना है । संत कवियों की विचारधारा का सफलता पूर्वक निर्वहन करनेवाले सुन्दरदास की " कुल ४२ रचनाएँ मानी जाती हैं । इन सब का संग्रह 'सुन्दर ग्रन्थावली' में मिलता है । ' सुन्दर विलास' आपका सबसे श्रेष्ठ ग्रन्थ है । इसमें 563 पद हैं । " [81] शास्त्रों के प्रखर विद्वान होने के बावजूद उन्होंने वर्ण-व्यवस्था को ललकारा है और उनकी यही सोच उनको दलित चेतना के पक्ष में खड़ा कर देती है ।

सारांश रूप में हम यह पाते हैं कि भक्ति काल के साहित्य में दलित चेतना के दर्शन होते रहे हैं चाहे वह कबीर की साखी, सबद , रमैनी हो, जायसी का 'पद्मावत' हो या कुतबन , मंझन , रैदास , मीरांबाई , नानक या संत पीपाजी की रचनाएँ हो इन सब में कहीं न कहीं दलित जीवन की मचलन और समाज सुधार की झलक मिल जाएगी । इसका एक कारण यह भी हो सकता है कि संत कवियों में से ज्यादा कवि नीची जाति से आते थे और इसलिए वे भी दलित जीवन के संतापों के भुक्तभोगी रहे हैं । भक्ति के दोनों संप्रदायों में दलित चिंता के दर्शन होते हैं । सगुण काव्य में भी वर्ण और जातिव्यवस्था का द्वंद्व दिखाई पड़ता है । शायद इसीलिए तुलसी ने शम्बूक-वध या सीता निष्कासन जैसे प्रसंगों को अपने 'मानस' से हटा दिया है । " पूरा का पूरा भक्ति आंदोलन सांप्रदायिकता और वर्ण-व्यवस्था का विरोधी है । इसकी मूल चेतना उस सामान्य मनुष्य की पक्षधर है , जो ब्राह्मणवाद के संरक्षक सामंतों और इस्लाम

के कट्टर मुल्ला-मौलवियों द्वारा समान रूप से शोषित और पीड़ित है । भक्ति आंदोलन के परस्पर विरोध लगने वाले दोनों खेमों को यदि गौर से देखें , तो पाएँगे कि एक (सगुण) का विरोध परंपरागत उदारता की सीमा में है, तो दूसरा (निर्गुण) पूर्णतः क्रांतिकारी है । परिवर्तन दोनों चाहते हैं, मुक्ति की छटपटाहट दोनों में है । " [82] इस प्रकार कह सकते हैं कि भक्ति आंदोलन और भक्ति साहित्य में दलित सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं ।

3.4 नवजागरण कालमें प्रमुख दलित कवियों का योगदान

भारत में अंग्रेजों के आगमन और उनके राज्य की स्थापना के साथ ही भारतीय समाज में जो परिवर्तन, जो जागृति , जो चेतना का निर्माण हुआ उसे नवजागरण के नाम से जाना जाता है । इस जागरण ने साहित्य , संस्कृति ,धर्म , जाति , वर्ण और लिंग सभी स्तरों पर भारतीय समाज को प्रभावित किया । अंग्रेजी शिक्षा पश्चिमी ज्ञान-विज्ञान ,यातायात के साधन और नयी अर्थ-व्यवस्था ने एक ही साथ भारत की सामाजिक-सांस्कृतिक एवं धार्मिक जड़ता को तोड़ डाला । इस सामाजिक क्रांति का प्रभाव साहित्य पर भी पड़ा । यदि हम दलित चेतना की बात करे तो इस काल तक भक्तिकालीन विचारधारा सुषुप्त रूप में विधमान रही और 1914 के सितम्बर महीने में 'सरस्वती' में प्रकाशीत हीराडोम की कविता के रूप में फिर से अंकुरित होने लगी । लेकिन कंवल भारती इस से असहमती जताते हुए लिखते हैं कि " जब हम मध्यकालिन साहित्य में एक सशक्त निर्गुणधारा को ब्राह्मणवाद , वर्णाश्रम , जातिभेद , धार्मिक पाखंड और सामंती मूल्यों के खिलाफ़ एक जबरदस्त विद्रोह के रूप में पाते हैं , तो यह कैसे माना जा सकता है कि उस धारा ने विकास न किया हो । सच तो यह है कि मध्यकालिन साहित्य में कबीर , रैदास आदि संतों ने जिस दलित चेतना का सूत्रपात किया था , वह मरी नहीं थी,अपितु अत्यंत सशक्त रूप में विकसित हुई थी । हीरा डोम का गीत उसी दलित चेतना का रूप है । " [83] और इस दृष्टि से वे हीराडोम को दलित चेतना का प्रथम

कवि नहीं मानते । कुछ भी हो प्रमाण के अभाव में हम किसी भी तथ्य को मान नहीं सकते । डॉ. हरिनारायण ठाकुर ने नवजागरण कालीन दलित कवियों की लंबी सूची दी है । " नवजागरण कालीन दलित कवियों में अभी तक केवल हीराडोम , अछूतानंद , स्वामी शूद्रानंद , स्वामी शंकरानंद , अयोध्यानाथ ब्रह्मचारी , स्वामी प्रेमनाथ, स्वामी केदारनाथ , शिवानंद पुजारी , मुंशीलाल , स्वामी ओमानंद , स्वामी ओंकारनाथ , स्वामी जीवननाथ , स्वामी योगानंद , स्वामी धर्मनाथ आदि गिने-चुने नाम ही दिखाई पड़ते हैं । इस दिशा में शोधकार्य चल रहे हैं । कंवल भारती ने ऐसे अनेक दलित कवियों के नामों की चर्चा की है , जो सुधारवादी आंदोलनों से जुड़े थे लेकिन उनकी रचनाएँ अभी तक उपलब्ध नहीं है । " [84] इन सभी कवियों में हम अब तक सप्रमाण सिद्ध एवं प्रमुख दलित कवि हीराडोम एवं अछूता नंद की चर्चा यहाँ पर करेंगे ।

3.4.1 हीराडोम

सन् 1914 के सितम्बर के 'सरस्वती' में छपी कविता 'अछूत की शिकायत' आधुनिक दलित चेतना की प्रथम कविता मानी जाती है । और इसके चलते इस कविता के रचनाकार हीराडोम को दलित चेतना का प्रथम कवि माना जाता है । कवि हीराडोम के जन्म एवं जीवनकाल तथा रचनाकाल एवं कृतित्व के बारे में और कोई विवरण नहीं मिलता । भोजपुरी भाषा में लिखी गयी यह कविता निसंदेह रूप से दलित जीवन की यातनाओं की मार्मिक प्रस्तुति है । इस लोकगीत में हीराडोम ने दलित जीवन के दुःख , अवसाद और पीड़ा को बखूबी व्यक्त किया है । यह कविता इतनी सशक्त है कि केवल यह कविता ही हीराडोम का इतिहास बन गयी । कोई एक ही रचना की वजह से किसी रचनाकार का इतिहास प्रसिद्ध बन जाना सामान्य बात नहीं है । डॉ. हरिनारायण ठाकुर ने हीराडोम को अपने जमाने के एक सशक्त एवं कुशल कवि मानते हुए लिखा है कि- " इस कविता के भाव , इसकी बनावट-बुनावट , सशक्त कथ्य और मजे हुए शिल्प को देखते हुए ऐसा नहीं लगता कि कवि ने

एक ही कविता लिखी होगी । इस कविता को देखकर सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि इसका रचनाकार कितना कुशल कवि और सधा हुआ कलाकार है । लोकधुन की लय , प्रवाह, छन्द , यति गति और तुकों की मिलावट का ऐसा संयोजन कोई कुशल कवि ही कर सकता है । " [85] हम यह अनुमान ज़रूर लगा सकते हैं कि हीरा ने अपनी कविता को 'सरस्वती' में प्रकाशन हेतु भेजी तो यह स्पष्ट है कि वह पढ़े-लिखे थे और पत्र-पत्रिकाओं के संसार एवं साहित्य जगत से परिचित थे । ऐसा सधा हुआ रचनाकार केवल एक ही कविता लिखे यह मान लेना मुश्किल है । उन्होंने ज़रूर और रचनाएँ भी की होगी लेकिन प्रकाशित केवल एक ही हुई । जो भी हो लेकिन वे एक विज्ञ रचनाकार थे इसमें संदेह नहीं है ।

'अछूत की शिकायत' ईश्वर से है । एक अछूतने अपने जीवन की यातनाएँ और पीड़ा ईश्वर के सामने प्रस्तुत करके एक तरह से ईश्वर से जवाब तलब किया है । जो भगवान खंभा फाड़कर प्रहलाद को बचाता है , जो गजराज की मगर से रक्षा करता है , जो दुर्योधन से द्रोपदी की लाज बचाता है , जो जनकल्याण के लिए ऊँगली पर पर्वत उठा लेता है वह ईश्वर आज कहाँ निंद्राधीन है , वह हमारा उद्धार क्यों नहीं करता ? वह ऐसे दर्दनाक जीवन से हमें क्यों नहीं बचाता है ? कंही ऐसा तो नहीं कि मनुष्यों की तरह वह भी डोम जानकर हमसे दूर हो गया है , हमें छूने से डर रहा है ।

"खंभवा को फारी प्रह्लाद के बचवले जा / ग्राह के मुंह से गजराज के बचवले ॥
धोती जुरजोधना के भइया छोरत रहे / परगट होके तहां कपड़ा बढ़वले ॥
मारले खानवा के पत ले विभीखना के / कानी उंगली पे धैके पथरा उठाइबे ॥
कहाँ लो सुतल बाटे सुनत न बाटे अब / डोम जानी हमनी के छुए से डेरेले ॥ " [86]

मध्यकालीन संत कवि रैदास ने जहाँ ईश्वर को सर्वशक्तिमान बताते हुए लिखा था कि

" निचहु उच करे गोबिंदु , काहू ते ना डरै । "

हीराडोम ने यह शंका जतायी कि शायद प्रभु भी पतित होने के डर से हमारी सहायता नहीं कर रहे हैं । ईश्वर के लोक मंगलकारी स्वरूपों का गुणगान करनेवाले

पंडितों के सामने यह एक खुला विद्रोह था । उस कविता के प्रारंभ में ही कविने दलित जीवन का यथार्थ चित्रित किया है-

" हमनी के रात दिन दुखवा भोगत बानी /हमनी के सहेबे से मिनती सुनाइबि ।
हमनी के दुख भगवनओं न देखता जे / हमनी के कबले कलेसवा उठाइबि ॥ " [87]

इतने दुःख-दर्द से संतप्त होने के बावजूद वह विधर्मी नहीं बनना चाहता है , उसे डर है कि पादरी साहब का धर्म अपनाकर वह समाज को क्या मुँह दिखायेगा ।

" पदरी साहब की कचहरी में जाइबजा / बे-धरम हो के अंगरेज बन जाइबी ॥
हाय राम ! धरम न हमसे छोड़त बाजे /बेशरम होके कहाँ मुहवाँ दिखाईबी ॥ " [88]

कवि हीराडोम ने दलित जीवन का यथार्थ चित्रित करते हुए कहा है कि हम अछूत अपने खून-पसीने की कमाई मिलबाँट कर खाते हैं , कभी कोई अनैतिक या गलत तरीका अपनाकर रुपये नहीं कमाते , जबकि समाज के बाकी तीनों उच्चवर्ण के लोगों ने यह काम करना शुरू कर दिया है , यथा -

"बमने के लेखे हम भिखिया न माँगव जां / ठकुरे के लेखे नहिं लहरि चलाईबि ।
सहुआ के लेखे नहिं डांडी हम मारब जां / हीरा के लेखे नहिं गईबा चोराईबि ।
भंटऊ के लेखे न कबित्त हम जोरबां जां / पगडी न बान्हि के कचहरी में जाइबि ।
अपने पसीनवा के पैसा कमाइब जां / घर भर मिली जुलि बांटि-चोंटि खाइबि ।" [89]

फिर भी हमारा जीवन ही नर्कागार क्यों बना हुआ है ? ईश्वर से उनकी शिकायत है कि हमारा शरीर भी बाकी मानवों की भाँति हाड-माँस से बना है, सभी अंग-उपांग भी बाकी मानवों जैसे ही है , फिर भी हम में और उनमें इतना अंतर क्यों हैं ? क्यों ब्राह्मण घर-घर में पूजा जाता है और उसके जैसे ही शरीर वाले हमको गालियाँ मिलती है ? क्यों हम उनके कुएँ से पानी नहीं पी सकते ? क्यों हमें तालाब-नहरों का दूषित जल पीना पड़ता है ? और इस पर भी यदि कोई गलती हो गयी , तो जूते से पीट-पीटकर वे हमारे हाड़ तोड देते हैं । यथा-

" हड़वा मसुइया के देहिया है हमनी कै / ओकारै कै देहियां बभनऊ के बानी ।
ओकदा के घरे-घरे पुजवा होजत बाजे / सगरै इलकवा भइलैं जजमानी ।

हमनी के इनरा के निगीचे ना जाइलेजां / पांके में से भरि-भरि पिअतानी पानी ।
पनहीं से पिटि पिटि हाथ गोड़ तुरि दै लैं / हमनी के एतनी काही के हलकानी ?" [90]

भले ही हीराडोम के जीवन के बारे में हमारे पास कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं हो लेकिन उनकी इस कविता को देखकर हम निसंदेह रूप से उनके दलित जीवन की यातनाएँ और पीड़ा की चित्कार अवश्य सुन सकते हैं। वे अछूतों की दर्दनाक यातनाओं के भुक्तभोगी रहे होंगे यह निर्विवाद सत्य है । यह ध्यान देने की बात है कि हीरा-डोम ने जाति-व्यवस्था के विरुद्ध जिस आक्रोश और क्षोभ की शिकायत ईश्वर से की है , उसकी वैसी मार्मिक व्यंजना समाज-व्यवस्था से सीधे शिकायत करने में नहीं हो पाती । इस दृष्टि से दलित चेतना की बेबाक अभिव्यक्ति में हीरा डोम की 'अछूत की शिकायत' निश्चित रूप से सम्मानीय एवं उल्लेखनीय स्थान की अधिकारीणी है ।

3.4.2 स्वामी अछूतानन्द

हीराडोम के पूर्ववर्ती रहे स्वामी अछूतानंद 'हरिहर' को हिन्दी क्षेत्र में दलित नवजागरण का अग्रदूत कहा जाता है । स्वामी अछूतानंद का जन्म 6 मार्च, 1876 को उत्तर प्रदेश के फ़र्रुखाबाद जिले के सौरिख गाँव में हुआ । उनके पिता श्री मोतीराम और माता श्रीमती रामप्यारी देवी थीं । बचपन में उनका नाम हीरालाल था । वे बचपन से ही जिज्ञासु , लगनशील और संवेदनशील स्वभाव के थे , हीरालाल ने देहाती भाषाओं को सीखते हुए हिन्दी ,संस्कृत, बंगला, मराठी, गुरूमुखी, उर्दू और फ़ारसी पर पर्याप्त काबू पाया था । छुआछूत और जाति-भेद से संतप्त होकर उनके परिवार को अपना पैतृक गाँव 'सौरिख' को छोड़कर 'छूमरी' गाँव में जाकर बसना पड़ा। स्वामीजी ने दलितों को 'आदि हिन्दू' कहकर उनमें आत्मसम्मान एवं आत्मगौरव की भावना को जगाया । 1905 में वे आर्य समाज के संपर्क में आए और शुद्धिकरण के द्वारा चमार से पंडित बनकर 'हरिहरनंद' नाम से मशहूर हुए । लेकिन बाद में आर्य समाज को भी वर्ण-व्यवस्था से ग्रस्त जानकर आंबेडकर और फूले के

प्रभाव से अपना अलग 'आदि हिन्दू ' आंदोलन चलाया। " आदि हिन्दू आंदोलन का चिंतन पक्ष प्रगतिशील और आधुनिक चेतना के करीब था। वे अपने को श्रेष्ठ अवश्य मानते थे, किन्तु अछूतों की ज़मीनी हक़ीकत के साथ उनके सुधार और उद्धार की चिन्ता और प्रयत्न भी उनमें शामिल था। अछूतानंद का यह ' आदि हिन्दू आंदोलन ' बड़ा ही सशक्त आंदोलन था , जिसका दलित समाज पर जबदस्त प्रभाव पड़ा। " [91]

तत्कालीन आर्यसमाजी पंडितों और ब्राह्मणों के तीव्र विरोध से ही इस आंदोलन की लोकप्रियता एवं प्रभाव का अंदाजा लगाया जा सकता है। अछूतानंद ने अपने इस आंदोलन के द्वारा व्यापक दलित वर्ग में सामजिक मुक्ति की दृष्टि से वैचारिक क्रांति के बीज बोए थे। जिसकी लहलहाती फसल आज हम दलित साहित्य के रूप में देख पाते हैं। स्वामी अछूतानंद को स्वतंत्रता से पूर्व के नवजागरण में दलितों के वैचारिक नेता के रूप में भी देखा जा सकता है। " उन्होंने अनेक लोक छंदों में काव्य रचना की, जिनमें आल्हा, खयाल, भजन, भावनी, दोहा, चौबोला और कवित्त प्रमुख हैं। वे बीसवीं सदी के पहले दलित रचनाकार थे, जो न सिर्फ कवि थे, बल्कि नाटककार, सम्पादक और गायक भी थे। उनके कृतित्व से स्वयं अंबेडकर प्रभावित थे। अंबेडकर की रचनाओं में अछूतानंद के पत्र ' आदि हिन्दू ' का न सिर्फ जिक्र मिलता है, बल्कि उसमें इस पत्र से ली गयी सामग्री भी उद्धरित मिलती है।" [92]

अछूतानंदजी सिर्फ कपड़ों से संत बनकर मुफ़्त की रोटी नहीं तोड़ते थे। वे संत होकर भी घर, गृहस्थी, समाज और देश के प्रति सचेत और जिम्मेदार थे। केवल उपदेश करने भर में वे अपने कर्तव्य की पूर्ति नहीं समझते थे। उनकी विचारधाराओं एवं कार्यशैलियों में जो परिवर्तन दृष्टिगत होता है उससे यह स्पष्ट है कि उनके विचारों एवं कार्यों में पर्याप्त गत्यात्मकता मौजूद थी। वे एक रचनात्मक व्यक्तित्व के रूप में हमारे सामने आते हैं। उन्होंने दलितोत्थान या दलित चेतना के विकास के लिए कई अनगिनत कार्य किये। " सन् 1917 में दिल्ली आकर देवीदास जाटिया और जगतराम जाटिया के संयोग से 'अखिलभारतीय अछूत महासभा' की स्थापना की।

1922 में पंचम जोर्ज के पुत्र प्रिंस ऑफ़ वैल्स के दिल्ली आगमन पर उन्होंने अभिनंदन पत्र के बहाने अछूतों की और से 16 सूचि, मांगपत्र प्रस्तुत किया ये 16 मांगे स्वामीजी की अछूत चिन्ता का निचोड़ है । " [93]

" 1927 में ' आदि हिन्दू ' शीर्षक से अख़बार का प्रकाशन और संपादन किया । 1930-32 के गोलमेज सम्मेलन में अछूतों के प्रधिनिधि गाँधीजी नहीं , डॉ. अम्बेडकर हैं- इस पक्ष में उन्होंने ब्रिटिश सरकार को सैकड़ो टेलिग्राम लंदन भिजवाए थे । इतना ही नहीं, उन्होंने दिल्ली, पंजाब, राजस्थान आदि प्रांतों में अनेक दलित सम्मेलन भी करवाये ।" [94] इस दृष्टि से वे एक दलितोंउद्धार के लिए प्रयत्नरत दलितनेता, सनिष्ठ कार्यकर्ता एवं प्रखर चिंतक भी ठहरते हैं ।

इस सामाजिक योगदान के साथ-साथ दलित चेतना के क्षेत्र में स्वामीजी का साहित्यिक योगदान भी बहुमूल्य रहा है । १९वीं सदी के अन्त और २०वीं सदी के आरंभिक दशकों में कविता , गीत , भाषण और पत्रकारिता के माध्यम से उन्होंने दलित स्वाभिमान और दलित मुक्ति के सवाल उठाये । साहित्य , पत्रकारिता ,कला , नाटक आदि सांस्कृतिक कार्यों को मुक्ति का आधार मानकर उन्होंने 1910 से 1927 के बीच अनेक गीत , नाटक और कविताओं की रचना की । रामायण की प्रसिद्ध शम्बूक-वध की कथा को उन्होंने 'शम्बूक' नाटक में लोक भोग्य भाषा में चित्रित किया । उनकी प्रमुख रचनाओं में 'चेतावनी' , 'थियेटर-ध्वनि' और 'अछूत' के शीर्षक से अनेक कविताएँ और गीत , 'मनुस्मृति हमको जला रही है ' , ' वेदो में भेद छिपा था ' एवं नाटक-थियेटर के लिए अनेक गीत हैं । उनकी रचनाओं पर फूले के विचारों का प्रभाव स्पष्ट झलकता है ।

अछूतानंद या शूद्रानंद ने अपनी कविताओं में वर्ण-व्यवस्था का प्रखर विरोध किया है । मनु की वर्ण-व्यवस्था का मजाक उड़ाते हुए उन्होंने अपने एक पद में मनु से अनेक सवाल किये हैं , जिनके उत्तर शायद स्वयं मनु के पास भी नहीं होंगे- यथा-

" मनुजी तुमने वर्ण बना दिये चार ।

जा दिन तुमने वर्ण बनाये , न्यारे रंग बनाये क्यों ना ?

गोरे ब्राह्मण लाल क्षत्री बनिया पीले बनाये क्यों ना ?

शूद्र बनाते काले वर्ण के , पीछे को पैर लगाये क्यों ना ?

कैसे ही पहीचान पोप जी दो अक्षर डलवाये क्यों ना ?

पाँच तत्व तो सब में दिखें , ज्यादा तत्व लगाये क्यों ना ?

वह सर्वज्ञ सर्व में व्यापक , उससे भी जुदे बनाये क्यों ना ?

पांच तत्व गुण बराबर बढ़कर तत्व लगाये क्यों ना ?

एक चूक बड़ी भारी पड़ गयी न्यारेऊ मुल्क बसाये क्यों ना ?

लोहे के बर्तन पर पानी कंचन को दयौ डार । मनुजी ... " [95]

अछूतानंद ने मनु-स्मृति को दलितों की बड़ी शत्रु माना है । दलित जीवन की सारी यातनाएँ एवं पीडाएँ इसी मनु-स्मृति की देन है । उन्होंने अछूतों को यही कहा है कि हमारे नारकीय जीवन का कारण यह ' मनु-स्मृति ' ही है, यथा -

"निसदिन मनुस्मृति ये हमको जला रही है ।/ ऊपर न उठने देती नीचे गिरा रही है । हमको बिना मजूरी , बैलों के संग जोते / गाली व मार उस पर हमको दिला रही है । लेते बेगार , खाना तक पेट भर न देते / बच्चे तड़पते भूखे ,क्या जुल्म ढा रही है।" [96]

दलितों पर ऐसे अमानुषी अत्याचार का परिणाम निश्चय ही सुखद नहीं होगा । हिन्दू समाज को चेतावनी देते हुए कवि कह उठते हैं कि -

" ऐ हिन्दू कौम सुन ले, तेरा भला न होगा /

हम बेकसों को 'हरिहर' गर तू रुला रही है।" [97]

दलित समाज को 'आदि हिन्दू' कहकर स्वामीजी ने इस समाज को स्वाभिमान के साथ जीने की प्रेरणा दी है । उन्होंने उच्चवर्ग को आक्रान्ता आर्य बताकर दलितों को यह याद दिलाना चाहा है कि हम ही यहाँ के असली निवासी

हैं। अछूतों की महानता को ऐतिहासिक पुट देकर कवि ने दलित जागरण का प्रयास किया है-यथा- " पुरखे थे हमारे बादशाह , तुम्हे याद हो कि न याद हो ,

अब हिन्द में हम हैं तबाह , तुम्हे याद हो कि न याद हो ,

इतिहास में जो नामवर , तुम्हे याद हो कि न याद हो ,

थे सभ्यता में अग्रसर , तुम्हे याद हो कि न याद हो ,

आये थे आर्य यहाँ नये , तुम्हे याद हो कि न याद हो ,

छल-बल से वे मालिक भये , तुम्हे याद हो कि न याद हो ,

यदि खून में कुछ जोश हो , ओ बेहोश कौमों , जो होश हो ,

तुम क्यों पड़े खामोश हो , तुम्हे याद हो कि न याद हो। " [98]

कवि अछूतानंद ने दलित-दमन के पौराणिक आख्यानों एवं कथानकों का परिमार्जन करके परंपरागत व्याख्या को बदलने का प्रयास भी किया है। पौराणिक कथ्यों को दलित दृष्टि से देखकर उन्होंने प्रस्तुत किया है , यथा -

" राजा बलि को फ़ांस दान में लिया त्रिलोक मांगा

फिर कब्जा कर लिया देश पर भेज उन्हें पाताल

जनता मारी गई मुफ़्त में हुआ देश पामाल" [99]

दलितों में ऐसी समाज व्यवस्था के प्रति विद्रोह की भावना को स्वामीजी ने चिनगारी दी है। दमन के विरोध एवं विद्रोह को जगाते हुए अछूतानंद कहते हैं कि -

" थे आदि हिन्दू , पीड़ित दलित कहाँ तक पडे रहेंगे।

प्रबल अबल के प्रचंड शोले , जमीं में कब तक गडे रहेंगे ?

स्वभाव आखिर अनल तो अपना बता ही देगा बता ही देगा।

धधकती आगि में धुंधकारी सरीखे कब तक खड़े रहेंगे ? " [100]

इसी भाव को और आगे बढ़ाते हुए स्वामीजी कहते हैं कि -

" शूद्रों गुलामों रहते , सदियां गुजर गई हैं /

जुल्मो सितम को सहते , सदियां गुजर गई हैं / अब तो जरा विचारो , सदियां गुजर गई हैं ! / अपनी दशा सुधारो , सदियां गुजर गई हैं। " [101]

जैसा कि हम पहले कह चुके हैं कि अछूता नंद ने अछूतों के सदियों से सोए हुए आत्मसम्मान को जगाया है और सीना तानकर जीने के लिए कहा है। वे कहते हैं की भारत के सबसे प्राचीन और सभ्य हकदार हम ही हैं , इसीलिए अत्याचार मत सहन करो-यथा - " सभ्य सबसे हिन्द के प्राचीन हैं हकदार हम

था बनाया शूद्र हमको थे कभी सरदार हम।

अब नहीं है वह जमाना , जुल्म 'हरिहर' मत सहो।

तोड़ दो जंजीरें जकड़े क्यों गुलामी में रहो। " [102]

अछूतानंद ने अपनी कविताओं के द्वारा अछूतों को क्रांति करने का आह्वान किया है। अपनी निष्क्रियता पर उन्हे भारोभार क्षोभ है। अब तक चूप रहकर हमने बहुत कुछ गँवाया है, इसलिए अब जनक्रांति ज़रूरी है। कुछ ऐसे ही भाव उनकी 'थियेटर-ध्वनि' कविता की इन पक्तियों में दिखाई देता है -

" जागो जी जागो, असली नाम डुबानेवाले, / वंश डुबानेवाले, राज गंवानेवाले,

बनके गुलाम 'दस्यु' नाम धरानेवाले /सहते दुत्कार अपना सर्वस्व मिटानेवाले.." [103]

अछूत जीवन की नारकीय यातनाओं से मुक्ति पाने के लिए प्रभु-प्रार्थना या शिकायतें ही काफ़ी नहीं है। अछूतानंद ने दलितों को अपनी मुक्ति के लिए आत्म बलिदान के लिए भी तैयार रहने के लिए कहा है। यथा -

" चाहो उठाना अगर तो उठो हो निड़र / समझो धड़ पर हमारे सर ही नहीं

अब नहीं रहा वक्त ए भाइयों / जो मनु ने थी छोडी कसर ही नहीं.. । " [104]

अछूतानंद की कविताओं की भाषा और उसके भाव इतने सरल हैं कि सहज ही समझ में आ जाते हैं। साहित्य को उन्होंने सही अर्थ में लोक भोग्य बनाया है। उन्होंने दलितों को इतिहास की दुहाई देकर उनके आत्मसम्मान को झकझोरा है और उन्हें सतर्क और सावधान भी किया है। आत्म-हीनता की भावना से मुक्त होकर दलितों में समाज व्यवस्था के प्रति जनआंदोलन का आह्वान किया है। शायद इसीलिए उनकी 'आदि हिन्दू' आल्हा मायानंद बलिदान, आदिवंश का डंका आदि

रचनाएँ आज भी दलित वर्ग में प्रसिद्ध है । स्वामी अछूतानंद का व्यक्तित्व एवं कृतित्व बहुआयामी है। उन्होंने समाज में दलितोत्थान के जो प्रयास सामाजिक एवं साहित्यिक क्षेत्र में किये वे निस्संदेह रूप से बहुत महत्वपूर्ण एवं मूल्यवान हैं । साहित्य क्षेत्र में दलित विचारधारा का संवहन , संवर्धन , परिमार्जन एवं चिंतनपूर्ण जतन स्वामी अछूतानंद 'हरिहर' का जीवन लक्ष्य है। आधुनिककाल में दलित चेतना साहित्य के चमकीले तारों में अछूतानंद निश्चित रूप से महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं।

यह तो सर्वविदित सत्य है कि यदि दलित साहित्य की संकल्पना को ध्यान में रखा जाए तो विशुध्ध रूप से दलित साहित्य आधुनिक कालीन साहित्य में ही दृष्टिगत होता है। दलित साहित्य डॉ. आंबेडकर एवं महात्मा फूले जैसे महापुरुषों की विचारधारा से प्रतिपोषित एवं प्रभावित रहा है । दलित रचनाएँ जन्म से ही सामजिक प्रश्नों से जूझती है । आधुनिक दलित कविता अपने यथार्थ को व्यक्त करने भर में अपने कर्तव्य की इतिश्री नहीं कर सकती। उस पर बहुत सारी जिम्मेदारियाँ हैं। एक तरफ उसे दलितों में व्याप्त मनोवैज्ञानिक भयाक्रांत्ता एवं लघुताग्रंथि को दूर करके उनके दिलों में स्वाभिमान की भावना को जागृत करना है और मानवीय अधिकारों के लिए संघर्षरत करना है, साथ ही साथ उसे अपने प्रति पक्षी विचारकों के दिलों में अपराध-बोध और प्रायश्चित भाव को जागृत करके उन्हें आत्मविवेचन और आत्ममंथन के लिए विवश करना है । दलित साहित्य के आदिकाल भक्ति काल में दलित कविता वर्ण-व्यवस्था का विरोध करती हुई , इसके बारे में ईश्वर से शिकायत करती हुई और सामाजिक सुधार की अपेक्षा लिए चिखती-चिल्लाती ज्यादा नज़र आती हैं। जबकि आधुनिक कालीन दलित कविता दलितों को अपने मानवोचित अधिकारों के लिए संघर्ष एवं विद्रोह के लिए प्रेरित करती और आक्रोशपूर्ण जनक्रांति का आह्वान करती दिखाई देती है कि जो चीज मांगने से , गुहारें लगाने से या विरोध जताकर नहीं मिल पाती उसे संघर्ष करके छीन लेना चाहिए इस दृष्टि से आधुनिक दलित कविता के तेवर तेज-तर्रार तो है ही साथ ही साथ उसके साहित्यिक पक्ष में भी परिमार्जन हुआ है। साहित्यिक दृष्टि से भी आज

की दलित कविता ने काफ़ी विकास किया है । और इसके फल स्वरूप उसके साहित्यिक सौंदर्य में भी वृध्धि हुई है ऐसा कहना अतिशयोक्ति नहीं होगी । आधुनिक दलित कविता की इन्हीं प्रवृत्तियों को हम यहाँ पर माताप्रसाद के साहित्य के संदर्भ में प्रस्तुत करेंगे ।

3.5 माताप्रसाद का रचनाकर्म

चिन्तनशील कवि श्री माताप्रसाद का जन्म 11 सितम्बर , सन् 1925 में उत्तर प्रदेश के जौनपुर जिले के मछली शहर में श्री जगरूप राम तथा श्रीमती रज्जोदेवी के यहाँ हुआ । माताप्रसादजी का बचपन बहुत ही संघर्षपूर्ण रहा । 9 वर्ष की उम्र में पढ़ाई के साथ-साथ छुट्टियों के दिनों में ईंट गारा ढोना , जमीदार के यहाँ पंखा झलना और बेगारी करने जैसे काम भी करने पडे । उनकी इच्छा मीडिल पास करने के बाद अंग्रेजी पढ़ने की हुई । लेकिन 35 किलोमीटर दूर अंग्रेजी स्कूल में अछूत के लिए रहने की कोई जगह नहीं थी । इसीलिए उनका अंग्रेजी शिक्षा का सपना टूट गया । बाद में उर्दू पढ़ने लगे । " फिर 8 वर्ष अध्यापन किया । प्रधानाचार्य भी रहे । इसके बाद परिस्थितियाँ इन्हे राजनीति में ले गई । जल्द ही जिल्ला कोंग्रेस के मंत्री हो गए । 1957 से 1992 तक 3 साल छोड़ के उत्तर प्रदेश विधान परिषद के सदस्य तथा मंत्री भी रहे । 1993 में अरुणाचल प्रदेश के राज्यपाल नियुक्त किए गए । " [105] ऐसे व्यस्ततम जीवन में भी उनका रचनाकर्म निरंतर चलता रहा , यही उनके व्यक्तित्व की विशेषता है ।

माताप्रसादजी का मानना था कि समाज में वर्ण-व्यवस्था और दलित-दमन बहुत पहले से ही चले आ रहें हैं, इसलिए सहसा या अचानक इस विष-वृक्ष को उखाड़कर फैंका नहीं जा सकता है । उसके असर को धीरे-धीरे ही समाप्त किया जा सकता है और यह काम केवल साहित्य ही कर सकता है । इसीलिए उन्होंने दलित साहित्य का सृजन किया । उनकी प्रमुख कृतियाँ हैं- दलित समाज संबंधी लोकगीत , ' अछूत का बेटा ' , ' धर्म के नाम पर धोखा ' ' प्रतिशोध ' , ' धर्म परिवर्तन ' (नाटक)

तथा ' हिन्दी काव्य में दलित काव्यधारा , ' उ.प्र. की दलित जातियों का दस्तावेज', 'मनोरम भूमि अरुणांचल', ' पूर्वोत्तर भारत के राज्य', शोध के अतिरिक्त " 'एकलव्य' (खण्ड काव्य), भीम शतक, दिग्वीजयी रावण और उनकी आत्मकथा 'झोंपडी से राजभवन'। "[106] इतने व्यापक रचनाकर्म के लिए उन्हे 1988 में अखिल भारतीय दलित साहित्य अकादमी का राष्ट्रीय पुरस्कार, 1994 में हिन्दी प्रचारिणी सभा, कानपुर द्वारा 'कीर्ति भारती' तथा एन.बी.गाडगिल सोसायटी से 'नेशनल अवोर्ड ' से सम्मानित किया गया ।

माताप्रसाद की कविताओं में आधुनिककालीन दलित साहित्य की प्रवृत्तियों के दर्शन होते हैं । महाभारत के उपेक्षित वीर धनुर्धर 'एकलव्य' के कथानक को उन्होंने 'एकलव्य' खण्डकाव्य के द्वारा प्रस्तुत किया । इसमें इनके काव्य की छन्दबध्धता देखने योग्य है । एकलव्य की साधना को इस प्रकार रेखांकित करते हैं -

" हुआ साधना लीन तनिक भी , तन की हुई न चिन्ता ।
रहा लक्ष्य ही सम्मुख भूले , मात पिता अरु जनता ।
हुआ धनुर्धर वह अनुपम , अति मनमें हर्षित होता ।
यश बढ़ता ही गया , निशाना उसका चर्चित होता । " [107]

माताप्रसाद के बहुचर्चित 'भीम शतक' (प्रबंध काव्य) में उन्होंने दलितों की स्थिति का बड़ा ही मार्मिक चित्रण किया है । यथा -

" थूके न जमीन कहूँ , गले हाँड़ी लटकावें / थूक पैर तले पडे छूत घसि जाई है ।
कतहुं अछूत चले , पग चिह्न अन्य पड़े / कहें सारा पाप तन उनके समाई है ।
यहीं ते अछूत यदि पथ में चलन लगे /बांधे झाड़ू पीछे चिह्न चलत मिटाई है। " [108]

माताप्रसादजी के कृतित्व की सारी विशेषताएँ उनके 'दिग्वीजयी रावण' प्रबंध काव्य में दृष्टिगत होती है । रामकथा के अदभुत लेकिन उपेक्षित और तिरस्कृत पात्र रावण की महिमा का गुणगान कर उन्होंने राक्षस संस्कृति के समदर्शी पक्ष को सामने रखा है । यथा -

" नस्ल वर्ण , अरु जाति भेद ना , धर्म नहीं डाले व्यवधान ।
खान पान अरु ब्याह भेद ना , रक्ष संस्कृति की पहचान ।।
अपनाए जो इसे , आर्यजन राक्षस कह दुत्कारा है । " [109]

दलित समाज प्राचीनकाल से ही शोषित और पीड़ित रहा है । स्त्री और शूद्र को 'गँवार' बनाए रखकर उनका शोषण किया जाता है । इसी भाव को कविने शब्दबध्ध किया है । यथा -

"तुलसी मानस कह गए,स्त्री शूद्र गवार/काम ठीक वह तब करे ,मित्र पड़े जब मार ।।
स्त्री शूद्र पढ़े नहीं,इन्हे नहीं अधिकार/मनुस्मृति ने है कहा ,बना मित्र लाचार।।" [110]

डॉ. आंबेडकर ने कहा था कि शिक्षित बनो संगठित बनो और अधिकार प्राप्ति के लिए संघर्ष करो । दलित समाज की दुर्दशा के लिए जो कारण सामने आते हैं उनमें से एक यह भी है उनमे संगठन का अभाव रहा है । इसी वजह से यह अपार जनसंख्या योग्य नेतृत्व के अभाव में प्रताड़ित और शोषित होती रही है । इस और माताप्रसादजी यूं संकेत करते हैं -

" दलित बिना नेतृत्व के , बिखर गए चहुँ ओर ।
धन्य पारखी 'मित्र' वह , मुक्ता गुंथे बटोर । " [111]

दलितों की अधिकांश जनसंख्या दूर-दराज के गाँवों में निवास करती है और सबसे अधिक अत्याचार भी वहीं पर होता हैं । आज कल हम ऐसे अनेक दलित हत्याकांड के बारे में पढ़ते हैं, जैसे नारायणपुर, बेलची, साढ़ापूरा, देहुली, परसबीधा, मेहराना, हिन्देगढ़ा आदि हत्याकांड । आश्चर्य की बात यह है कि गौ-हत्या पर शोर मचानेवाले समाज में ऐसी दलित-हत्या पर कोई आवाज़ नहीं निकलती - " गौ-हत्या के नाम पर , शोर है बहुत मचाय ।
'मित्र' दलित हत्या भये , शब्द न एक सुनाय । " [112]

ऐसे जधन्य कृत्यों के प्रति भी समाज मूक प्रेक्षक क्यों बना हुआ है ? इसके बारेमें माताप्रसादजी का मानना है कि- " दलित जब तक बहुत पीड़ित था , तब तक

उस पर तथाकथित उच्च वर्ग की 'कृपा दृष्टि' थी । लेकिन अब दलित उस वर्ग के मुकाबले खड़ा होने लगा है , तो वह 'अनुकंपा' ईर्ष्या में बदल गयी है । " [113] और यही ईर्ष्या से ग्रस्त समाज दलितोत्थान का विरोधी बन गया है , क्योकिं उसमें उनको अपने अस्तित्व पर जोखिम होने का आभास होने लगा है ।

" हमारी स्थिति को केवल राजनीतिक शक्ति ही बदल सकती है । हमें उसे ही प्राप्त करने का प्रयास करना चाहिए । " [114] माताप्रसादजी का व्यक्तितत्व अंबेडकर की इस विचारधारा की प्रतिकृति के समान है । क्योकिं वे एक सामाजिक और साहित्यिक व्यक्तितत्व ही नहीं बल्कि एक विन्रम राजनैतिक व्यक्तितत्व भी है । वे राजसी ठाट-बाट की उपलब्धि में भी प्रारंभिक जीवन में भोगे गए यथार्थ को नहीं भूल पाए हैं । माताप्रसाद ने अपने राजनैतिक जीवन के अनुभवों का निचोड़ 'राजनीति की अर्द्ध-सतसई' में सूत्रबध्ध किया है । साढ़े-तीन सो दोहों का यह संकलन दलित साहित्य में बहुत ही महत्वपूर्ण है , क्योंकि दलित साहित्य पर जो आरोप लगाए जाते हैं कि यह साहित्य केवल दलित केन्द्री ही बनकर रह गया है । समाज की बाकी समस्याओं और राष्ट्रीय सरोंकारों के प्रति यह साहित्य लापरवाह है । इन आरोपों का मुँह-तोड जवाब माताप्रसाद की 'राजनीति की अर्द्ध-सतसई' है । इसमें राष्ट्रीयता एवं सामजिकता का सुंदर समन्वय मिलता हैं । माताप्रसादजी ने अपने समय की लगभग सभी समस्याओं पर चिंतन किया है । आधुनिक समाज की सबसे बडी समस्या है पर्यावरण सुरक्षा । इसके संदर्भ में वृक्षारोपण का महत्व समझाकर शुध्ध हवा को औषधि बताते हुए माताप्रसादजी कहते हैं कि -

"एक हवा ,सौ दवा है ,देवें वृक्ष उदार /लेते दूषित वायु वे,देते शुध्ध बयार ।। " [115]

जहाँ एक और माताप्रसाद ने नारी के शोषण का विरोध किया है , वहीँ समाज में व्याप्त नारी स्वछंदता पर चिंता भी जतायी है ।

" पत्नी अधिकारी बनी,पति घर में बेकार/देख-रेख घर की करे,मिले 'मित्र' फटकार ।।

राजनीति अरु क्लब में ,समय रही काट /

पति दिनभर ऑफिस घिसे,पत्नी बढ़ा रहै ठाट ।। " [116]

राजनीति में धर्म के बढ़ते प्रभाव से कवि बहुत ही चिंतित है। धर्म आधारित राजनीति का वे विरोध करते हैं। बाबरी मस्जिद का विध्वंस हमारे समय की एक ऐसी घटना है , जिसने भारत का सिर सारी दुनिया के सामने झुका दिया है। यह घटना भारतीय संविधान , धर्म निरपेक्षता और प्रजातन्त्र पर कुठराघात है । माताप्रसादजी ने इन संपूर्ण स्थितियों पर अपने विचार स्पष्ट करते हुए अपने दोहों में बताया है कि किस प्रकार धोखेबाज और वंचक भगवे वस्त्रों में छिपकर भारत की समरसता को तोड़ने का प्रयास कर रहे हैं। यथा -

"राजनीति का धर्म जब ,बन जाता हथियार /मरते बहु निर्दोष हैं ,रोते कई हज़ार ।।
मस्जिद तूने तोड़कर,किया बड़ा अपराध/हिन्दू-मुस्लिम लड़ गए,मरे बिना अपराध ।।
मस्जिद-रक्षा बचन दे,मुकर गए निज बात/मर्यादा सब तोड़ दी,संविधान कर घात ।।
राजनीति में लाभहित,मस्जिद दिया गिराय/तुम रोटी हो सेकते,
देश में आग लगाय " [117]

माताप्रसादजी की रचनाओं में झूठे साहित्यिक अभिजात्य का प्रदर्शन नहीं मिलता । वह साधारण बोलचाल की भाषा में अपनी बातें रख देती हैं । माताप्रसादजी के रचनाकर्म के संबंध में डॉ. लालसाहब सिंह ने सच ही लिखा है कि- " श्री माताप्रसादजी सामाजिक चेतना के समर्थ कवि हैं। इनका मानवतावाद जब बौध्धिकता की दृष्टि ग्रहण कर लेता है तो युग के व्यापक हित में मानव मूल्यों की प्रतिष्ठा करता है और सम्भवतः इसी दृष्टि के कारण इनकी रचना चमत्कार वैशिष्ट्य और दुरुहता की शब्दावलियाँ गढ़कर युग के पहरेदार होने के झूठे दावे पेश नहीं करती। वह रचना के दायित्व से युक्त होकर भाव और शिल्प का सुगठित सार्थक प्रयोग है। उनकी रचना प्रक्रिया , जीवन प्रक्रिया की तरह सुख-दुःख , उल्लास-अवसाद दोनों को सहज ढंग से ग्रहण करती चलती है ।"[118] माताप्रसादजी का साहित्य दलित साहित्य की अनमोल निधि है। दलित चेतना की दृष्टि से यह साहित्य निर्विवाद रूप से महत्वपूर्ण स्थान रखता है।

इस प्रकार हम देख सकते हैं कि दलित काव्य परंपरा के उत्स हमें प्राचीन साहित्य में प्राप्त होते हैं और कालांतर में यह परंपरा पोषित एवं पुष्पित होती चली आ रही है। दलित दमन के दस्तावेज़ प्राचीन काल से ही साहित्य में प्राप्त होते आ रहे हैं, अतः दलित साहित्य की विभावना भी उतनी ही प्राचीन मानी जानी चाहिए। वाल्मीकि से लेकर आधुनिक काल के माताप्रसाद तक की रचनाओं में दलित विमर्श अलग-अलग स्वरूपों में दृष्टिगत होता है।

❖ निष्कर्ष

समग्र अध्याय के सारांश रूप हम निम्नलिखित निष्कर्षों तक सहजतया पहुँच सकते हैं।

१. प्राचीन महाकाव्यों में दलित चेतना के उत्स पाए जाते हैं, अतः दलित साहित्य का उदगम भी वहीं से माना जाना चाहिए।

२. आदिकाल के सिध्ध साहित्य एवं नाथ साहित्य तथा भक्तिकाल के संत साहित्य में दलित काव्य परंपरा का प्रवाह समृध्ध होकर बहा है।

३. कालांतर में दलित काव्य-परंपरा का स्वरुप परिवर्तित एवं पुष्ट होता गया, और उसके स्वर में आक्रोश एवं विद्रोह के भाव उभरने लगे।

४. नवजागरणकालीन एवं आधुनिककालीन रचनाओं में दलित कविता का प्रखर रूप देखने को मिलता है।

५. दलित कविता में निरंतर प्रगतीशील विचारधारा उभरकर सामने आती है, जो माताप्रसाद की कविताओं में पायी जाती है।

६. दलित कविता की पृष्ठभूमि में रहे उनके संताप-विताप दलित कविता की परंपरा पर गहरा प्रभाव डालते हैं।

७. दलित कविता की पृष्ठभूमि ही उसकी परंपरा को संचालित करती नज़र आती है।

८. प्राचीन से लेकर अर्वाचीन दलित कविता के शिल्प एवं सौंदर्य में निरंतर विकास दृष्टिगत होता है , जो इसके सुनहरे भविष्य का परिचायक है।

☆ संदर्भसूची

1. ' दलित साहित्य का समाजशास्त्र',डॉ.हरिनारायण ठाकुर,भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली , 2010 ,पृष्ठ - 166
2. 'दलित साहित्य का समाजशास्त्र',डॉ. हरिनारायण ठाकुर,भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली , 2010 , पृष्ठ – 166
3. दलित देवो भवः , किशोर कुणाल, प्रकाशन विभाग , नयी दिल्ली,पृष्ठ -139
4. अयोध्या कांड , दोहा- 194
5. नये शहर की तलाश : जिलिएट के हवाले से अभय कुमार दुबे , आधुनिकता के आईने में दलित , पृष्ठ-125
6. दलित साहित्य कुछ आलोचनाएँ,कंवल भारती, संकल्पिका, पटना, सितम्बर 1997 , पृष्ठ- 29
7. परम्परा का पुनर्मूल्यांकन चाहता है ,दलित साहित्य : कंवल भारती , 'वागर्थ', जून-2004 , पृष्ठ-32
8. ' दलित साहित्य का समाजशास्त्र ', डॉ. हरिनारायण ठाकुर, भारतीय ज्ञानपीठ , नयी दिल्ली , 2010 , पृष्ठ – 176
9. वही , पृष्ठ – 39
10. मनुस्मृति
11. अत्रि संहिता
12. महाभारत : वेद व्यास
13. महाभारत : वेद व्यास
14. दलित साहित्य का समाजशास्त्र, हरिनारायण ठाकुर , पृष्ठ – 182
15. हनुमान और शंबूक , प्रेमकुमार मणि , हंस – सितम्बर-2010 , पृष्ठ-79
16. हनुमान और शंबूक , प्रेमकुमार मणि , हंस – सितम्बर-2010 , पृष्ठ-80

17. परम्परा का पुनर्मूल्यांकन चाहता है, दलित साहित्य : कंवल भारती , 'वार्गथ' जून-2004, पृष्ठ-32-33
18. दलित साहित्य का समाजशास्त्र, हरिनारायण ठाकुर , पृष्ठ – 397
19. दलित साहित्य के आधार स्त्रोत ,दलित साहित्य परंपरा और विन्यास , डॉ. एन.सिंह , पृष्ठ- 85
20. दलित संघर्ष : संस्कृति एवं साहित्य की सबल अभिव्यक्ति (लेख) : डॉ. प्रेमशंकर प्रशासन, त्रेमासिक , मसूरी , जनवरी-मार्च-1997,वाल्यूम-11 , नं-1, पृष्ठ- 206
21. हिन्दी साहित्य का इतिहास : आचार्य रामचन्द्र शुक्ल , पृष्ठ- 8
22. ' हिन्दी काव्य में दलित काव्यधारा ', माताप्रसाद , सम्यक प्रकाशन , नई दिल्ली, 2008, पृष्ठ – 36
23. 'दलित साहित्य परंपरा और विन्यास ',डॉ. एन. सिंह , साहित्य संस्थान, गाज़ियाबाद , 2011 , पृष्ठ- 86
24. चर्यापद और दोहाकोश , पुरातात्विक निबंधावली
25. ' हिन्दी साहित्य का इतिहास: संपूर्ण प्रश्नोत्तरी ', प्रो. नायक और ठक्कर, श्री गजानंद पुस्तकालय-सूरत , पृष्ठ- 9
26. दलित संघर्ष : संस्कृति एवं साहित्य की सबल अभिव्यक्ति (लेख) : डॉ. प्रेमशंकर प्रशासन , त्रेमासिक , मसूरी , जनवरी-मार्च-1997,वाल्यूम-11 , नं-1,पृष्ठ- 206
27. हिन्दी साहित्य का दूसरा इतिहास : डॉ. बच्चन सिंह , पृष्ठ- 36
28. हिन्दी साहित्य का इतिहास , संपूर्ण प्रश्नोत्तरी, प्रो. नायक और ठक्कर , श्री गजानंद पुस्तकालय- सूरत , पृष्ठ- 9
29. वही , पृष्ठ-9

30. 'दलित साहित्य परंपरा और विन्यास',डॉ. एन. सिंह ,साहित्य संस्थान, गाज़ियाबाद , 2011, पृष्ठ- 87

31. संत कबीर : डॉ. तारा परमार , आश्वस्त -जून -2011 , पृष्ठ-1

32. दलित साहित्य में दलित अस्मिता , डॉ. कालीचरण स्नेही , पृष्ठ- 44

33. कबीर:एकसमाज सुधारक कवि : मनीषा कुल श्रेष्ठ www.hindisamay.com

34. संत कबीर : डॉ. तारा परमार : आश्वस्त -जून-2011 , पृष्ठ-1

35. कबीर:एकसमाज सुधारक कवि : मनीषा कुल श्रेष्ठ www.hindisamay.com

36. कबीर : डॉ. हजारीप्रसाद द्रिवेदी : पृष्ठ- 172

37. रैदास : धर्मपाल मैनी , साहित्य अकादमी , नयी दिल्ली , पृष्ठ- 14

38. रैदास की वाणी : बेलबेडियर प्रेस , इलाहाबाद

39. रैदास : धर्मपाल मैनी , साहित्य अकादमी , नयी दिल्ली

40. भक्ति आंदोलन में दलित , दलित साहित्य का समाज शास्त्र , हरिनारायण ठाकुर , पृष्ठ- 219-220

41. भक्ति आंदोलन में दलित , दलित साहित्य का समाज शास्त्र , हरिनारायण ठाकुर , पृष्ठ- 222

42. संत रविदास काव्य की प्रासंगिता , डॉ. धीरजभाई वणकर , आश्वस्त-फरवरी-2011, पृष्ठ- 3

43. माताप्रसाद : भेंटवार्ता , आश्वस्त -जुलाई-2011 , पृष्ठ-20

44. संत रविदास काव्य की प्रासंगिता , डॉ. धीरजभाई वणकर, आश्वस्त -फरवरी-2011, पृष्ठ- 3

45. माताप्रसाद : भेंटवार्ता , आश्वस्त -जुलाई-2011 , पृष्ठ-20

46. संत शिरोमणी रविदास : डॉ. तारा परमार : आश्वस्त -फरवरी-2011,पृष्ठ-1

47. संत रविदास काव्य की प्रासंगिता,डॉ. धीरजभाई वणकर , आशवत-फरवरी-2011, पृष्ठ- 3

48. संत रविदास काव्य की प्रासंगिता,डॉ. धीरजभाई वणकर, आश्वस्त -फरवरी-2011 पृष्ठ- 2,4

49. आदि ग्रन्थ : पद सं-1 , पृष्ठ- 1106

50. दलित साहित्य का समाजशास्त्र, हरिनारायण ठाकुर , पृष्ठ – 222

51. संत रविदास काव्य की प्रासंगिता , डॉ. धीरजभाई वणकर, आश्वस्त -फरवरी-2011, पृष्ठ- 4

52. भक्ति आंदोलन में दलित,दलित साहित्य का समाज शास्त्र, हरिनारायण ठाकुर, पृष्ठ- 227

53. श्री गुरु ग्रन्थ साहब : पद- 1/6, सिरी रागु महला-1 , पृष्ठ- 16

54. श्री गुरु ग्रन्थ साहब : आसा की वार, महला-1 , पृष्ठ- 471

55. हिन्दी साहित्य का इतिहास : आचार्य रामचन्द्र शुक्ल , नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी , पृष्ठ- 59,60

56. दलित साहित्य का समाजशास्त्र, हरिनारायण ठाकुर , भारतीय ज्ञानपीठ , नई दिल्ली , २०१० , पृष्ठ- 230 , 231

57. हिन्दी साहित्य कोश , भाग- 2

58. भक्ति आंदोलन में दलित , दलित साहित्य का समाज शास्त्र , हरिनारायण ठाकुर , भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली , 2010 ,पृष्ठ- 233

59. हिन्दी साहित्य कोश , भाग- 2, पृष्ठ- 27

60. हिन्दी साहित्य कोश , भाग- 2, पृष्ठ- 27

61. कबीर एण्ड हिज कॉलोअर्स , पृष्ठ- 97

62. दलित साहित्य का समाजशास्त्र, हरिनारायण ठाकुर , भारतीय ज्ञानपीठ , नई दिल्ली , 2010 , पृष्ठ – 233

63. दलित साहित्य का समाजशास्त्र, हरिनारायण ठाकुर , भारतीय ज्ञानपीठ , नई दिल्ली , 2010 , पृष्ठ- 234

64. हिन्दी साहित्य का इतिहास,आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी

65. हिन्दी साहित्य का इतिहास,संपूर्ण प्रश्नोत्तरी, प्रो. नायक और ठक्कर , गजानंद पुस्तकालय , सूरत , पृष्ठ- 32

66. 'वसुधा' , अंक- 58 , जुलाई-सितम्बर , 2003 से साभार

67. 'वसुधा' , अंक- 58 , जुलाई-सितम्बर , 2003 से साभार

68. भारत सामाजिक क्रांतिकारी , पृष्ठ- 65

69. माताप्रसाद : साक्षात्कार, दलित साहित्य परंपरा और विन्यास , पृष्ठ- 300

70. महान समाज सुधारक : संत पीपाजी, ललित शर्मा, आश्वस्त - फरवरी-2011, पृष्ठ- 5

71. जुगनू , श्रीकृष्ण- समाज सुधारक पीपाजी , दैनिक भास्कर , दिनांक 09 अप्रैल, 2009, पृष्ठ- 6

72. त्रिपाठी , राममूर्ति- धर्म निरपेक्षता और संत साहित्य : संत पीपाजी के परिप्रेक्ष्य में , पीपा वाणी (शोध लेख) ई. 2004 , इन्दौर , पृष्ठ- 1

73. ग्रंथ साहिब (आदि ग्रन्थ) राग धनाक्षरी, पद सं-1 का भावानुभाव, (महान समाजसुधारक : संत पीपाजी ललित शर्मा,आश्वस्त- फरवरी-2011, (पृष्ठ- 6 , में प्रकाशित)

74. खीची , रघुनाथ सिंह (इन्द्रोका) , सांवरलाल तंवर, संत पीपाजी एवं साध्वी सीता, स्मृति ग्रंथ , पृष्ठ- 257,264

75. खीची , रघुनाथ सिंह (इन्द्रोका) , सांवरलाल तंवर, संत पीपाजी एवं साध्वी सीता, स्मृति ग्रंथ , पृष्ठ- 257,264

76. महान समाज सुधारक : संत पीपाजी, ललित शर्मा,आश्वस्त-फरवरी-2011, पृष्ठ- 7

77. खीची , रघुनाथ सिंह (इन्द्रोका) , सांवरलाल तंवर, संत पीपाजी एवं साध्वी सीता, स्मृति ग्रंथ , पृष्ठ- 257,264

78. मैकालिफ़,मैक्स आर्थर-द सिक्ख रिलिजन,ई 1905,अंग्रेजी,भाग- 5,पृष्ठ- 111

79. नाभादास- भक्तमाल (भक्तिरस प्रबोधीनी),टीका,संवत २०१७ , व्याख्याकार- रामकृष्ण देव गर्ग , पृष्ठ- 426

80. हिन्दी कविता में दलित चेतना : एक अनुशीलन, डॉ. जयंतीलाल माकडिया, पृष्ठ- 65

81. हिन्दी साहित्य का इतिहास , संपूर्ण प्रश्नोत्तरी, प्रो. नायक और ठक्कर, श्री गजानंद पुस्तकालय- सूरत , पृष्ठ- 32

82. दलित साहित्य का समाजशास्त्र, हरिनारायण ठाकुर , भारतीय ज्ञानपीठ , नई दिल्ली , 2010 , पृष्ठ - 243

83. चिंतन की परंपरा और दलित साहित्य, दलित चेतना का प्रथम कवि : हीरा डोम या अछूतानंद , कंवल भारती , पृष्ठ- 164-165

84. दलित साहित्य का समाजशास्त्र, हरिनारायण ठाकुर , भारतीय ज्ञानपीठ , नई दिल्ली , 2010 , पृष्ठ - 402

85. दलित साहित्य का समाजशास्त्र, हरिनारायण ठाकुर , भारतीय ज्ञानपीठ , नई दिल्ली , 2010 , पृष्ठ – 403

86. 'स्वर्ग पर धावा' : बिहार में दलित आंदोलन लेखक- प्रसन्न कुमार चौधरी और श्रीकान्त, वाणी प्रकाशन , नयी दिल्ली , पृष्ठ- 313,314

87. 'स्वर्ग पर धावा' : बिहार में दलित आंदोलन, लेखक- प्रसन्न कुमार चौधरी और श्रीकान्त, पृष्ठ- 313,314

88. वही

89. 'स्वर्ग पर धावा' : बिहार में दलित आंदोलन, लेखक- प्रसन्न कुमार चौधरी और श्रीकान्त, पृष्ठ- 313,314

90. वही

91. दलित साहित्य का समाजशास्त्र, हरिनारायण ठाकुर , भारतीय ज्ञानपीठ , नई दिल्ली , 2010 , पृष्ठ – 280

92. दलित निर्वाचित कविताएँ, भूमिका, कंवल भारती , इतिहासबोध प्रकाशन इलाहाबाद , 2010 , पृष्ठ- 15

93. चिंतन की परंपरा और दलित साहित्य , दलित साहित्य एक पृष्ठभूमि , श्योराज सिंह बेचैन , पृष्ठ- 190

94. दलित साहित्य का समाजशास्त्र, हरिनारायण ठाकुर , भारतीय ज्ञानपीठ , नई दिल्ली , 2010 , पृष्ठ - 282

95. दलित साहित्य का समाजशास्त्र, हरिनारायण ठाकुर , भारतीय ज्ञानपीठ , नई दिल्ली , 2010 , पृष्ठ - 406

96. दलित निर्वाचित कविताएँ, भूमिका कंवल भारती , इतिहासबोध प्रकाशन इलाहाबाद , 2010 , पृष्ठ- 15

97. वही

98. 'हंस' , अगस्त-2004 , पृष्ठ- 188-189

99. चिंतन की परंपरा और दलित साहित्य, हिंदी दलित साहित्य एक पृष्ठभूमि, श्योराज सिंह बेचैन , पृष्ठ- 191

100. वही

101. दलित साहित्य का समाजशास्त्र,हरिनारायण ठाकुर , भारतीय ज्ञानपीठ , नई दिल्ली , 2010 , पृष्ठ - 407

102. चिंतन की परंपरा और दलित साहित्य, दलित साहित्य एक पृष्ठभूमि, श्योराज सिंह बेचैन, पृष्ठ- 190

103. दलित साहित्य का समाजशास्त्र, हरिनारायण ठाकुर , भारतीय ज्ञानपीठ , नई दिल्ली , 2010 , पृष्ठ - 407

104. वही

105. दलित साहित्य परंपरा और विन्यास , डॉ. एन. सिंह , साहित्य संस्थान , गाज़ियाबाद , 2011 , पृष्ठ- 140

106. दलित साहित्य परंपरा और विन्यास, डॉ. एन. सिंह , साहित्य संस्थान , गाज़ियाबाद , 2011, पृष्ठ- 96,97

107. वही पृष्ठ- 97

108. ' भीमशतक ' (प्रबंध काव्य) , माताप्रसाद , पृष्ठ - 15

109. ' दिग्विजयी रावण ', (प्रबंध काव्य) , माताप्रसाद , पृष्ठ- 12

110. ' राजनीति की अर्द्ध सतसई ', माताप्रसाद ' मित्र ', पृष्ठ - 34

111. वही, पृष्ठ - 26

112. वही , पृष्ठ- 27

113. दलित साहित्य परंपरा और विन्यास, डॉ. एन. सिंह , साहित्य संस्थान , गाज़ियाबाद , 2011 , पृष्ठ- 142

114. वही

115. ' राजनीति की अर्द्ध सतसई ', माताप्रसाद ' मित्र ', पृष्ठ- 38

116. ' राजनीति की अर्द्ध सतसई ', माताप्रसाद ' मित्र ', पृष्ठ- 36

117. ' राजनीति की अर्द्ध सतसई ', माताप्रसाद ' मित्र ', पृष्ठ- 21-23-24

118. अनुशंसा , डॉ. लालसाहब सिंह , परिचय सतसई , माताप्रसाद , (भूमिका), पृष्ठ – 20